वैदिक धर्म



ज्येष्ठ सं. २००३
जुलाई १९४६

संपादक
पं० श्री० दा० सातवळेकर

वार्षिक मूल्य
म. ऑ. से ५) रु.; वी. पी. से ५।≈) रु.
विदेशके लिये १५ शिलिंग।
इस अंकका मू. ॥) रु.

क्रमांक ३१९

वैदिक धर्म

नये ग्रंथ

१ गीताका राजकीय तत्त्वालोचन

श्रीमद्भगवद्गीतामें राज्यशासनसंबधी जो निर्देश हैं, उनका स्पष्टीकरण करके भागवत राज्यशासनका स्वरूप बतानेवाले दस निबंध। मूल्य २) डा० व्य० ।≈)

२ ऋग्वेदका सुबोध भाष्य

(१) मधुच्छन्दा ऋषिका दर्शन। मूल्य १) डा० व्य० ।–)
(२) मेधातिथि ,, ,, मूल्य २) डा० व्य० ।≈)
(३) शुनःशेप ,, ,, मूल्य १) डा० व्य० ।–)
(४) हिरण्यस्तूप ,, ,, मूल्य १) डा० व्य० ।–)
(५) कण्व ,, ,, मूल्य २) डा० व्य० ।≈)
(६) सव्य ,, ,, (छप रहा है)

–मंत्री, स्वाध्याय-मण्डल, औंध (जि० सातारा)

वैदिकधर्म

क्रमांक ३१९

वर्ष २७ | आषाढ विक्रमीय संवत् २००३; जोलाई १९४६ | अङ्क ७

आदर्श कुटुम्ब

सहृदयं सांमनस्यं अविद्वेषं कृणोमि वः ।
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या ॥१॥
अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः ।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम् ॥२॥
मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन् मा स्वसारमुत स्वसा ।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया ॥३॥

(अथर्व ३।३०)

'तुम लोग परस्पर सहानुभूतिसे तथा द्वेष छोडकर बर्ताव करो। आपसमें कभी भी न झगडो। तुम्हारा परस्परमें व्यवहार इस प्रकार प्रेमयुक्त होता रहे कि जैसे गौ अपने नवजात बछडेके साथ बर्तती है। पुत्रका आचरण पिताके अनुकूल होवे और वह माँके साथ उत्कृष्ट बर्ताव करे। स्त्री अपने पतिके साथ मधुर तथा शान्तियुक्त स्वरसे बातचीत करे। भाई भाईका द्वेष न करे। दो बहिनोंका व्यवहार वैरभावयुक्त न हो। कोई भी काम सब मिलकर एकतासे करते रहो, और आपसमें इस प्रकार संभाषण करो कि जिससे सबका कल्याण हो।'

यह कुटुम्बके लिये आदर्श है। समाजमें भी आपसमें इसी प्रकारका बर्ताव होना चाहिये। 'वसुधैव कुटुम्बकं' अखिल विश्वके लोगोंने परस्परके साथ एक कुटुम्बके समान व्यवहार करना चाहिये। राष्ट्र, देश, कारखाना आदिमेंके लोगोंने भी कुटुम्बीयोंके समान बर्तना चाहिये।

संस्कृत वृत्तपत्र

संस्कृत-भाषा राष्ट्रभाषा हो जाय, इस उद्देशसे कुछ विद्वान् संस्कृतभाषामें कतिपय साप्ताहिक और मासिकपत्र प्रकाशित किया करते हैं। इन नियतकालिकोंमें वे दैनंदिन व्यवहारके अनेक विषयोंकी चर्चा किया करते हैं। इन पत्रों तथा मासिकोंके पढनेपर मनुष्य इस निर्णयपर आ जाता है कि संस्कृत-भाषा इस भारतीय राष्ट्रकी बोलभाषा होही गयी है। इन पत्रोंकी भाषा सरल, सुगम किन्तु शुद्ध तथा उदात्त होती है। इस कारणवश ऐसे लोग, जो मराठी या हिन्दी समझ सकते हैं, उनके लिये इन पत्रों तथा मासिकोंके लेख सुगमही हैं।

हाइस्कूल तथा कालिजके विद्यार्थी अथवा जिनके घर प्रौढ विद्यार्थी हों ऐसे सज्जन इन संस्कृत पत्रोंके ग्राहक होकर इनके इस स्तुत्य प्रयत्नको उत्तेजना दें। आजकल बम्बई यूनिवर्सिटी तो संस्कृतभाषाका गला दबानेपर उतारू हो गयी है। भविष्यकालमें ऐसे विद्यार्थी बहोत कम होंगे, जिन्होंने कि अभ्यासक्रममें संस्कृत लिया है। हमारी संस्कृति तथा सभ्यतापर यह एक हमलाही है। पूनामें महाराष्ट्र-विश्व-विद्यालय स्थापन होगा, और वहाँ संस्कृतभाषाको उचित स्थान प्राप्त होगा ऐसी आशा है। परन्तु तबतक तो इस प्रान्तके विद्यार्थीओंका शिक्षण विना संस्कृतकेही होगा, ऐसे चिन्ह दिखाई दे रहे हैं। इस अवस्थामें अगर संस्कृतभाषाप्रेमी सज्जन संस्कृतभाषामें निकलनेवाले इन वृत्तपत्रों तथा मासिकोंके ग्राहक बनेंगे, तो संस्कृतभाषासे उनके घरके लोगोंका उतनाही परिचय होगा, तथा उस पीढीपर उतनेही अच्छे संस्कार होंगे। इसलिये हम इन वृत्तपत्रों तथा नियतकालिकोंकी प्रशंसा कर रहे हैं।

(१) संस्कृतम्

संस्कृत-साप्ताहिक-पत्रम्। 'अस्यां एव शाला-व्यर्था संस्कृतं राष्ट्रभाषा भवेत्' अयं एव संस्कृतस्य उद्देशः' यह वाक्य इस पत्रके मुखपृष्ठपर लिखा हुवा होता है। संपादक- श्री० पं० कालीप्रसादशास्त्री। सह-संपादक- श्री० पं० कमलाकान्त त्रिपाठीशास्त्री। वार्षिक मूल्य ४ रु०। संस्कृत-कार्यालय अयोध्या यू० पी० यह इस पत्रका प्रकाशन-स्थल है। इसकी भाषाका नमूना—

'लार्ड वेवेलो भारतं आगतः, एवं वर्षत्रयात् कारागारेषु-व्यर्थं एव निक्षिप्ता निरपराधाः कांग्रेस-कार्य-समिति-नेतार उन्मुक्ता अभूवन्। अथ वायसरायः सिमला-शिखरे भारतस्य विभिन्न-दलीय-नेतृणां संमेलनं कर्तुं इच्छति, यत्र भारतीय-शासन-संचालनाय भारतीयानामेव मन्त्रि-मण्डलं संघटेत, इत्यस्मिन् विषये विचारो भविष्यति।'

(२) सुप्रभातम्

भारतस्य सर्वोत्कृष्टं संस्कृत-मासिक-पत्रम्। संपादक- श्री० पं० केदारनाथशर्मा सारस्वतः। व्यवस्थापक- श्री० पं० रामलालशास्त्री सारस्वतः। पता-सुप्रभातं कार्यालय, बनारस सिटी, यू० पी०। वार्षिक मूल्य ४ रु०। इसकी भाषाका नमूना—

'पूर्वस्मिन् काले या हि भाषा सभ्यसमाजे शुद्धरूपेण व्यवह्रियते स्म, यस्यां भाषायां जनाः परस्परं लेख-पत्रादि-व्यवहारं कुर्वन्ति स्म, यस्यां च स्थिरसाहित्यं, सूत्रसंग्रहोऽत्युपयोगिज्ञान-संनिवेशो भवति स्म, सैव हि संस्कृत-भाषा, समीचीन-भाषा, आर्याणां मातृभाषा, देवभाषा इत्यादि शब्दैः व्यवह्रियते।'

(३) कौमुदी

सं० श्री० पं० कालूराम व्यास, श्री सरस्वती परिषद्, एस्. बी. पाठशाला, चांदीरमणी लेन, हैद्राबाद सिन्ध। वा० मू० १॥ रु०। इसकी भाषाका नमूना—

'प्राचीन-भारते एषा वाणी जन-साधारणस्य भाषा आसीत्, अत्र न संदेह-लेशोऽपि। अतः पाणिनिना भाषा-शब्देन इयं व्यवहृता। महाराज-भोजस्य काले तु भूयान् प्रचार आसीत् अस्याः। अतो अस्या लोकभाषात्वे न कोऽपि सन्देहः। अद्यत्वे राष्ट्रभाषायाः समस्या अतीव जटिला। कश्चन हिन्दीं, कोऽपि उर्दूं, अपरश्च उभयोः असंगत-संकरीभूतां हिन्दुस्थानीं राष्ट्रभाषां कर्तुं कामयते।...संस्कृते एव राष्ट्रभाषापदं अधिगन्तुं योग्यताऽस्ति।'

वाचक-वर्ग इन संस्कृत पत्रोंको उदार आश्रय दें। स्वयं ग्राहक बनें और अपने इष्टमित्रोंमें इनका प्रचार करें।

'संपादक'

सृष्टिकर्ताको नहीं अपने आपको।
बाह्यप्रेम नहीं आत्मप्रेम

(ले० श्री- पं० रामावतार रतनगढ, बिजनौर यू० पी०)

मनुष्य सृष्टिकर्ताको नहीं ढूंढ रहा किंतु आत्मान्वेषण कर रहा है। उसका बाह्यप्रेम उसका आत्मप्रेम है। उसका उसे बाह्यप्रेम समझाना अज्ञान है। मनुष्य जब किसी रचयितासे प्रेम करता पाया जाता है तब वह भूल करता है।

मनुष्यको किसी पदार्थके रचयितासे कोई प्रेम नहीं होता। उसे तो उसकी रचनासेही प्रेम होता है। उसका किसी कर्ताके साथ प्रेम बनावटी या पारम्परिक होता है। रचनाका प्रेमही स्वाभाविक या साक्षात् प्रेम है। मनुष्य कर्ताको देखनेको कहताही कहता है सचमुच तो उसके मनमें कृतिकोही देखनेकी इच्छा होती है। ऐसा मन्तव्य इसलिये स्थिर करना पड़ा है कि जो रचना मनुष्यके मनको भा जाती है मनुष्य उसीके रचयिताको देखनेको भी कहा करता है। यदि मनुष्यको वह रचना न भाती तो वह उसके रचयिताको भी देखना क्यों चाहता ? साथही यह भी कोई अटल नियम नहीं कि कोई रचना किसीको सुन्दर लगे तो रचनासे प्रेम करनेवाला वह मनुष्य उसके साथ उसके रचयितापर भी प्रेम दिखावे। क्योंकि मनुष्यको तो रचनासेही प्रेम होता है। रचनासे प्रेम होनेके कारण मनुष्य कभी कभी उसके रचयितासे भी मिलन चाहा करता है। परन्तु साथही यह भी तो कोई नियम नहीं कि कृति सुन्दर बन गई हो तो उसका कर्ता भी सुन्दरही हो। असुन्दर कर्ताओंकी कृतियां भी तो सुन्दर पायी जाती हैं। सचमुच मनुष्य रचयितासे प्रेम करनाही नहीं चाहता किन्तु वह रचना कोही अपना प्रेम देना चाहता है।

यदि इस बातका मर्म खोजनेके लिये और अधिक गहरे उतरें तो कहना पड़ेगा कि मनुष्य न तो रचयितासे प्रेम करना चाहता है और न उसकी किसी रचनासे। वह जो कहीं किसी रचनापर प्रेम दिखाता दीखता है, उसके प्रेम दिखानेका भी एक गंभीर रहस्य या अभिप्राय होता है जिसे मनुष्यको समझना चाहिये। मनुष्य जब किसी रचनाको चाहा करता है तब वह अपनी किसी मानसिक भावनासेही तो उसे चाहा करता है। वह जिस भावनासे उस रचनाको चाहता है सचमुच तो वह अपनी उस भावनासेही प्रेम रखता है। मनुष्य अपनी भावनाकाही प्रेमी होता है, बाह्य पदार्थोंका नहीं। उसकी भावनाको जो जहां अनुकूलता मिलती है वहीं वह बाह्य प्रेम करता दीखता है। उसे अपनी भावनाके अतिरिक्त और किसीसे भी प्रेम नहीं होता। यदि मनुष्यके पास उस रचनाको चाहनेकी भावनाही न होती तो बताओ कि वह उस रचनाको भी क्यों चाहता ? इतने विचारने हमें यह बता दिया कि वास्तवमें मनुष्य न तो किसी रचयितासे प्रेम करना चाहता है और न वह उसकी किसी रचनासेही प्रेम रखना चाहता है, किंतु वह तो अपनी उस भावनापरही अपना मुख्य प्रेम रखना चाहता है, जिस (भावना) ने कि उस रचनाको अच्छा माना होता है। स्पष्ट बात यह हुई कि "मनुष्यको अपनीही भावना प्यारी है और कुछ उसे प्यारा नहीं है" आइये अब इसी बात-को इन शब्दोंमें कहलें कि मनुष्य अपने आपसेही प्रेम करना चाहता है। बाह्य किसी व्यक्ति या पदार्थसे नहीं। अपनी भावनाही तो अपनेआप है या अपनी भावनाही अपना आपा है। अपनी भावनासे प्रेम करना अपने आपसे प्रेम करना है। मनुष्य अपनेसे भिन्न किसीसे भी प्रेम नहीं कर सकता। इसलिये नहीं कर सकता कि प्रेम अभेदकीही गोदमें खेलता है, जहां अभिन्नता है वहीं प्रेम है। जहां अभेद नहीं है वहां प्रेम भूलकर भी

नहीं जाता। अब हमें यह कहनेमें कोई संकोच नहीं रहा कि जो मनुष्य अपने आपको किसी स्वभिन्न वस्तुसे प्रेम करनेवाला समझ रहा है वह बडे भारी भ्रममें पडा हुआ है। उसे यह जानना चाहिये कि उसका आप विश्वव्यापी होनेसे वह जिस किसी बाह्य पदार्थसे प्रेम करता प्रतीत होता है वह अपने आपसेही प्रेम कर रहा है। हां वह प्रेमके इस रहस्यको समझ नहीं रहा है, इसीसे प्रेमकापूरा आनन्द नही उठासक रहा है।

मनुष्यको जो कोई रचना दीखी उसने दीखकर उसके भीतर भरी हुई भावनाको जगाकर खडा कर डाला या बाहर निकाल डाला। वह भावना जागी और उस रचनासे प्रेम करने दौडी। पीछेसे उसी भावनाने मनुष्यसे कहा कि यदि मैं इस रचनाके कर्ताको भी देख लेती तो और भी अच्छा होता। स्पष्ट है कि भावनानेही कर्ताको देखना चाहा। उसकी यह इच्छा इस छिपी हुई अभिलाषाको लेकर हुई कि यदि यह कर्ता मेरे मनभाई ऐसी कोई और रचना रच दें तो यह और भी अच्छा हो।

चाहे वह किसी भी प्रकार हुआ जब मनुष्यको किसी रचनाके कर्तासे प्रेम हो गया तब उसे यह भी इच्छा स्वभावसे हुई कि यह कर्ता मुझसे अलग न रहता तो अच्छा होता। उसको अपनेसे अलग न रहने देनेकी इच्छा इसलिये हुई कि प्रेमका अर्थही एक हो जाना, या अलग न रहना, अभिन्न हो जाना है। वह प्रेमही क्या हुआ जिसमें ऐक्य न आया, जिसमें अलगाव न मिटा या जिसमें भेद जीवित रह गया? प्रेम भी हो और द्वैत भी रहे, यह भला कैसे संभव हो? प्रेम, द्वैत या पार्थक्यको कैसे सहे? बस जिस *क्षण मनुष्यका किसी कर्तासे प्रेम हुआ उसी क्षण उसे* उस कर्ताको अपनेमें मिला लेनेकी या उससे अपने आपको अभिन्न पानेकी भी इच्छा हुई। मनुष्यने उसी समय यह भी चाहा कि मैं जिस प्रकारकी रचनाओंसे प्रेम करना चाहता हूं उनके देखनेका कोई सार्वकालिक प्रबन्ध हो जाय तो और भी अच्छा हो। अच्छा हो कि मैं अपनी प्यारी रचनाको सदाही देखता रह सकूं। इस कामके लिये मनुष्यने बहुत अच्छा प्रबन्ध किया। पहले उसने देखा था कि कर्ता तो मुझसे भिन्न है वह तो मुझे सदा दीखता नहीं रह सकेगा। फिर उसने देखा कि इस कर्ताकी कृति भी मुझसे भिन्न है वह भी मुझे सदा नहीं दीख सकेगी। यह सब देखकर उसने अपनेसे भिन्न रहनेवाले कर्ता और अपनेसे भिन्न रहनेवाली रचना (कृति) दोनोंके पाससे अपना प्रेम हटा लिया और वह किसी ऐसी कृतिकी ढूंढ करने लगा जो अपनेसे अभिन्न हो, वह एक ऐसा उपाय सोचने लगा कि जिससे वह अपनी प्यारी रचनाको अपनेसे अभिन्न कर पावे। उसके लिये उसने देखा कि मेरे पास मेरा भावही एक ऐसा पदार्थ है कि जो मुझसे कभी भिन्न नहीं हो सकता। यह देखकर उसने इस रचनाको अपने भावके भीतर ले जाकर छिपा लिया और यों उसे अपनेसे अभिन्न बना लिया। इस प्रकार उसे अपने भावमें प्रविष्ट *करनेसे वह रचना उससे अभिन्न हो गई और उसके उसे* सदा दीखते रहनेका भी प्रबन्ध अनायास हो गया।

अब इस मनुष्यके पास इसके विचारकी महा महिमासे एक ऐसी अवस्था आगई कि अब इसे न तो किसी रचना की चाह रही और न किसी कर्ता की। अब तो वह अपनी *भावनाकाही प्रेमी हो गया।* इसीका अर्थ यह हुआ कि अब मनुष्य अपनेमेंही प्रेम करना चाहने लगा। अर्थात् अब मनुष्य आत्माराम हो गया। अब उसके पास यह एक ऐसी अवस्था आगई कि उसे बाह्यप्रेम करना अभी अनावश्यक होगया। इसलिये होगया कि अब उसकी दृष्टिमेंसे बाह्यपनाही जाता रहा।

सचमुच यह मनुष्यका भ्रम था कि मैं बाहर किसीसे प्रेम करता हूं। इस भ्रमने मनुष्यको अन्धा कर रक्खा था और उसें भटका रक्खा था। इस विचारने मनुष्यकी आंखे खोल दी। इसने उसे बताया कि ओ मनुष्य! तू तो अपने आपमेंही प्रेम करना चाहता है। तू आत्माराम है, तू बाहरके किसी भी पदार्थका प्रेमी नहीं है। तू बाह्यप्रेमोंसे सावधान हो जा। तेरा बाह्य प्रेम तेरी भ्रान्ति है। तेरे बाह्यप्रेमका वास्तविक स्वरूप आत्मप्रेमही है।

सचमुच बाह्यप्रेमने मनुष्यको ठगा। आईये हम सब बाह्यप्रेमोंकी ओरसे सतर्क हो जायं।

सृष्टिका मूलतत्त्व एक है। सृष्टिका रचयिताही सृष्टि बना है। सृष्टिको देखनाही सृष्टिकर्ताको देखना है।

जिस प्रकार घडेको देखकर कुम्हारको देखनेकी इच्छा

होती है इसी प्रकार सृष्टिको देखकर सृष्टिकर्ताको देखनेकी इच्छा होती है। परन्तु यह दृष्टान्त तो हमें यह बताता है कि जिस प्रकार घडा और कुम्हार दो हैं इसी प्रकार सृष्टि और स्रष्टा भी दो होने चाहियें। फिर सृष्टि और स्रष्टा मूलमें एकतत्त्व कैसे हैं ? यह एक गंभीर प्रश्न उठता है।

इस प्रश्नका उत्तर पानेके लिये हमें घडेके स्थूल रूपसे हटना पडेगा और उसके मूलरूपतक चलना पडेगा कि घडा मूलमें क्या वस्तु है ? विचार बताता है कि घडा मूलमें कुम्हारकी एक सूक्ष्म भावना है। घडेका जो मूल-रूप अर्थात् सबसे पहला रूप है वह कुम्हारकी भावना या कुम्हारका एक सूक्ष्म विचार है। कुम्हारकी भावनाही उसके हस्तकौशलका सहारा पाकर घडा बनकर दीखने लगती है, या यों कहें कि कुम्हारकी भावनाही साधनोंका व्यापार होनेपर दृश्य घटका रूप धारण कर लेती है। कुम्हारकी भावनाही कुम्हारसे घडे बनवाती है। जो कुम्हार घडा बननेसे पहले भावनामात्र था वह कुम्हार अब उस भावना रूपसे बदलकर भावरूपमें आगया। भावना भाव बन गई और भाव बनकर वह घडा कहलाने लगी। इस विवेचनने हमें एक और भेद बताया कि कुम्हारका शरीर कुम्हार नहीं है किन्तु कुम्हारकी भावना कुम्हार है। कुम्भ बनानेवाली भावनाके अतिरिक्त कुम्भकारकी कोई सत्ता सिद्ध नहीं होती। जब कि भावनाही घडा बनी तब घडे और कुम्हारका भेद अपने आप जाता रहा। तब ये दोनोंके दोनों मिलकर एक हो गये। अब इन दोनोंका ऐसा अभेद्य सम्बन्ध हुआ कि घडा नहीं तो कुम्हार कोई वस्तु नहीं और कुम्हार नहीं तो घडा कोई वस्तु नहीं। कुम्हार घडे बनाकरही कुम्हार बनता है। और घडे बन जानेपरही कुम्हारका कुम्हारपन सिद्ध होता है। जबतक वह घडे नहीं बनाता तबतक वह कुम्हार भी नहीं बनता। सिद्ध हुआ कि कुम्हारही घडे बना करता है। इस रीतिसे कुम्हार घडोंसे भिन्न तत्त्व नहीं ठहरता।

जहां (भावनामय) कुम्हार होगा वहीं घडा बनेगा, जहां घडा होगा वहां (भावनामय) कुम्हार भी रहा होगा। घडेको देखना कुम्हारकोही देखना है। जो घडा देख रहा है वह कुम्हारको देखही रहा है। जबतक घडा उत्पन्न नहीं हुआ था तबतक कुम्हार एक ऐसी भावनाके रूपमें था जो यद्यपि घडेके आकार की थी पर दीख नहीं सकती थी। यों विचार करते करते हम ऐसे स्थलपर आ पहुंचे हैं कि घडेको देख लेनेपर कुम्हार देखनेकी इच्छा नहीं रही। इसलिये नहीं रही कि घडेको देखनाही कुम्हारको देखना होता है। घडा और कुम्हार एक दूसरेसे भिन्न नहीं रह सकते। इसलिये नहीं रह सकते कि घडाही कुम्हार है और कुमारही घडा है। यह घडाही पहले कुम्हार था और वह कुम्हारही अब घडा बन गया है। ये दोनों एकरूप हैं। भेद केवल दो उच्चार्यमाण शब्दोंका या इन दोनोंके व्यक्त अव्यक्तपनेका है। ये दोनों दो शब्द लेकर प्रकट हुए हैं केवल इतनाही इन दोनोंमें भेद है।

जगत्‌की नामरूपात्मकताका रहस्य

इसीको जगत् की नामरूपात्मकता कहा जाता है। नाम भावना है और रूप भाव है। पदार्थोंका जो नाम है वह तो उनकी भावना है और पदार्थोंका जो रूप है। वह उनकी भावात्मकता है। जो बात घडे और कुम्हारके विषयमें हुई वही बात सृष्टि और स्रष्टाके विषयमें भी जाननी होगी।

फिर शंका उठी कि जबतक घडा नहीं बनता तबतक घडेकी भावना कुम्हारमें छिपी बैठी रहती है। पीछे वही भावना घडा बनवाती है। इसका अर्थ हुआ भावना और वस्तु है और घडा दूसरी वस्तु है। भावना बनवानेवाली है और घडा बननेवाला है। फिर मूलमें एकत्व या एकत्त्व सिद्ध हो तो कैसे हो? इसका समाधान यह है कि यह तो माननाही पडेगा कि भावना और क्रिया दोनों एकही साथ रहती हैं। घडा बनानेकी क्रिया हो चुकनेपरही कुम्हार कुम्हार सिद्ध होता है; उससे पहले नहीं होता। जबतक वह घडा बनानेकी क्रिया नहीं कर चुकता तबतक वह कुम्हार भी नहीं बनता। घडा बनानेकी क्रिया कर चुकतेही कुम्हार कुम्हार बनता है। जब कुम्हार कुम्हार बन चुकता है तबही घडा घडा बनता है। घडा नहीं तो कुम्हार नहीं और कुम्हार नहीं तो घडा नहीं। अब इसी बातको हमें यों कहना पडेगा कि यद्यपि वस्तु एकही है तो भी व्यवहारकालमें दो रूपोंमें अर्थात् दो भिन्न भिन्न शब्दोंमें कही जाने लगी है। वह दो शब्दोंमें कही जानेपर भी वास्तवमें एककी एकही है। भीतरका तत्त्व एक है और

बाहर उसे दो कहा जाने लगता है। भीतरवाला तत्त्व एक होनेपर भी यह जो उसे दो रूपोंमें कहा जाने लगता है यह इन्द्रियोंके कारण कहा जाने लगता है। जबतक वह इन्द्रियोंको नहीं दीखता था तबतक तो वह कुम्हार अर्थात् कुम्भका कर्ता था जब वह इन्द्रियोंको दीखने लगा तब वह कुम्भकर्तारूपसे आगे बढकर कुम्भ अर्थात् घडा कहा जाने लगा।

इन्द्रियोंका स्वभाव है कि वे मनुष्यके भीतरवाले भावोंको बाहर प्रकट करती रहती है या उन्हें बाह्यरूप देती रहती है। उनसे मनुष्यके भीतरके भावको बाहर प्रकट किये बिना या उन्हें बाह्यरूप दिये बिना नहीं रहा जाता। जब वे किसी भीतरवाले भावको बाहर प्रकट करती या उसे बाह्यरूप देती हैं तब मूल वस्तु एक होनेपर भी एकही वस्तुके रूप दो हो जाते हैं। तब एक तो उसका सूक्ष्म रूप रह जाता है और दूसरा उसका स्थूल बाह्य-रूप बन जाता है। यही वह स्थल है जहांसे द्वैत व्यवहार प्रारम्भ होता है।

इस विवेचनने हमें यहां पहुंचा दिया कि सृष्टि और सृष्टिकर्ता स्थूल विचारसे दोसे प्रतीत होनेपर भी मूलमें दोनों एकही पदार्थ हैं दो नहीं। सृष्टिकर्ता है तो सृष्टि भी है और सृष्टि है तो सृष्टिकर्ता भी है। इनका यह अटल गठ जोडाही इन दोनोंको एक कह रहा है। इसी बातको चाहे यों कहलें कि सृष्टिकर्ताही सृष्टि बन गया है। अब जिस मनुष्यको सृष्टिकर्ताको देखनेकी प्यास हो वह अपनी उस प्यासको सृष्टिको देखकर बुझाले और समझले कि मैंने सृष्टिकर्ता देख लिया। क्योंकि सृष्टिका कर्ताही सृष्टि बनकर मेरे सामने खडा हुआ है। जब कि मैं सृष्टिकर्ताको सृष्टिके रूपमें देखही रहा हूं तब मैं सृष्टिकर्ताको पृथक् देखनेकी इच्छा क्यों करूं? जब सृष्टिकर्ता सृष्टि बन चुका तब सृष्टिकर्ताका इस सृष्टिसे भिन्न ऐसा कोई रूप शेष नहीं रहा जिसको किसी मनुष्यको देखना चाहिये या जिसे कोई मनुष्य देख सके। सृष्टिकर्ताके पास सृष्टि बनानेकी भावनासे अधिक और थाही क्या? जब उसकी भावना सृष्टि बन गई तब वह सृष्टिको छोडकर किसीको दीखे भी तो कैसे दीखे? वह तो भावनामय था और अब वह उस भावनारूपसे निकलकर सृष्टिरूपमें आ चुका। अब जो लोग सृष्टिकर्ता रूपके दर्शनोंके इच्छुक होंगे उन्हें सृष्टिदर्शनकोही स्रष्टाका दर्शन मानकर सन्तोष लेना पडेगा। इससे भिन्न सृष्टि-कर्ताके दीखनेका अब दूसरा कोई मार्ग नहीं है। सिद्ध हुआ कि सृष्टि और स्रष्टा दोनों मूलमें एक तत्त्व हैं।

शंका उठती है कि जब तत्त्व एक है अर्थात् जब कि संसारमें एकही शक्ति है तब उस एक शक्तिमेंसे ये दीखने-वाली भेद भरी बातें कहांसे उग उठी? वह एकही तत्त्व एकही समयमें अनेक कैसे हुआ? वह एकही तत्त्व एकही समयमें ज्ञानी और अज्ञानी कैसे बना? वह एकही तत्त्व एकही समयमें रोने और हंसने कैसे लगा? वह एकही तत्त्व एकही समयमें दुःखी-सुखी आदि विरोधि रूप कैसे धर बैठा? ये सब भेद तो उसके भिन्न भिन्न तत्त्व होनेपर होने चाहियें थे। यह बात समझमें नहीं आती कि जब संसारका मूल तत्त्व ज्ञानस्वरूप आत्मा एकही है तब वह एकही समयमें ज्ञानी, अज्ञानी आदि स्वविरोधि भेष कैसे धर बैठा? इसका समाधान यह है कि आप तत्त्वका निर्णय अनुमानसे करने चले हो इसीसे उसे न समझनेकी भूल हुई है। आप सृष्टिको देखकर स्रष्टाका अनुमान लगाने जा रहे हो। आप इस अनुमानको छोडकर स्वानु-भवसे इस प्रश्नका उत्तर मांगो। आप प्रत्यक्षमें देखो कि इस सृष्टिमें सर्वत्र क्या देख रहे हो? हम लोग सृष्टिमें सर्वत्र सृष्टिही सृष्टि देख रहे हैं। इसका अर्थ हुआ कि यहां जो कोई मूल तत्त्व था वह सृष्टि बन गया। अब सृष्टिसे अलग स्रष्टा नहीं दीख सकता। जैसे सोना गहना बन जाता है तो उससे पृथक् सोना नहीं रहता इसी प्रकार स्रष्टा नामका मूल तत्त्व सृष्टि बन गया है तब स्रष्टा अलग कहां रहा?। हम इस संसारमें स्रष्टाको सृष्टि बननेकी धुनमें लगा हुआ पा रहे हैं। स्रष्टा सृष्टि बननेमें या यों कहें कि सृष्टि बनानेमें लग रहा है। 'पुरुष एवेदं सर्वं .यद्भूतं यच्च भाव्यम् ॥' यजु॥ वहही सृष्टिको उत्पन्न कर रहा है। और वहही स्वयं सृष्टि बन रहा है। वह इस सृष्टिका उपादान भी है और निमित्त भी है। वह अभिन्न निमित्तोपादान हैं सृष्टि नहीं तो स्रष्टा कहां? और स्रष्टा नहीं तो सृष्टि कहां? जहां सृष्टि है वहां स्रष्टा है और जहां स्रष्टा है वहां सृष्टि भी है। सृष्टि उसकी शक्ति है और वह सृष्टिका शक्तिमान् है। शक्ति दीखतेही

शक्तिमान्का ध्यान आता है। जहां शक्ति है वहां शक्तिमान् अवश्य है फिर चाहे वह इन चर्मचक्षुओंसे दीखे या न दीखे। शक्तिमान् शक्तिके पाससे अनुपस्थित नहीं रह सकता यह अमिट नियम है। इसी प्रकार शक्ति भी शक्तिमान्के पाससे नहीं टल सकती यह भी अमिट सत्य है। शक्ति और शक्तिमान् कभी अलग अलग नहीं रह सकते। अब आप सर्वत्र संसारके शक्तिमानोंको देख लीजिए कि वे अपनी शक्तियोंको लिये रहते हैं या नहीं? उनका स्वभाव अपनी अपनी शक्तियोंको प्रकट करते रहना होता है। शक्तिमानोंके भीतर नाना प्रकारके कर्म करनेकी शक्तियें भरी रहती हैं। शक्तिमान्की शक्ति कर्म शक्तिके रूपमें प्रकट हुआ करती है। यदि शक्तिमान्के भीतर कर्म शक्ति न भरी रहती तो शक्तिमान्के अस्तित्वका पता भी न चलता।

अब आइये शक्तिमान्की विशेषताओंकी विवेचना करें कि उसमें क्या क्या विशेषतायें हैं- यह तो निश्चित है कि शक्तिमान् एक है परन्तु साथही यह भी निश्चित है कि उसमें शक्ति अनेक हैं। हमही देखते हैं कि हम एक हैं परन्तु हममें शक्तियें अनेक हैं। हम देखते हैं हमारी शक्तियें प्रतिक्षण नाना रूपोंमें बदल रही हैं। जो हममें हो रहा है वही तो संसार भरमें हो रहा है। हम संसारसे अलग नहीं है और संसार हमसे अलग नहीं है। संसार भरमें एकही सत्ता और एकही नियम और एकही नियंत्रण काम कर रहा है। संसारमें मूल तत्त्व तो एक है। परन्तु शक्तियोंका यहां कोई अन्त नहीं हैं। संसारमें अनन्त शक्तियें काम रही हैं। शक्तिका अर्थही बदलते रहना है। जहां कहीं शक्ति है वहीं परिवर्तन है। शक्तिका स्वभाव परिवर्तन पाते रहना है। शक्ति निश्चल रहना नहीं जानती। शक्तिमें जो परिवर्तन होता रहता है। उसीको कर्म कहा जाता है। कर्म और परिवर्तन पर्यायवाची हैं। शक्तिमें प्रतिक्षण परिवर्तन होताही रहता है। परिवर्तनही संसारका महान् कर्म है। सूक्ष्म ध्यानसे पता चलता है कि शक्तिके इस प्रतिक्षणके परिवर्तनसेही संसारमें नानात्व आया है। शक्तिके परिवर्तनशील स्वभावनेही संसारमें नानात्वकी सृष्टि की है। यदि शक्तिमें परिवर्तनका स्वभाव न होता तो संसारमें नानात्व किसी भी प्रकार न आता। इस विचारसे हमें संसारमें नानात्व आनेका ऐसा अद्भुत कारण मिल गया जिसका समर्थन हमारा हृदय करनेको उद्यत होगया। कर्मही वस्तुओंकी माता है। जहां पहले कर्म दीखे समझ लो कि अब वहां शीघ्रही कोई वस्तु दीखेगी। यों भी कह सकते हैं कि कर्मही पीछेसे वस्तुरूप होकर दीखा करता है। कर्म सूक्ष्म होता है, वस्तु स्थूल रूप हो जाती है। कर्म निराकार होता है, वस्तु साकार हो जाती है। कर्म पूर्वरूप होता है, वस्तु उत्तररूप होती है। वस्तुका जो पूर्वरूप या सूक्ष्मरूप या निराकार रूप होता है वही कर्म है। हमें जो कुछ आज सृष्टिके रूपमें दीख रहा है यह कर्मही रूपान्तरित होकर दीख रहा है। हमें अब यही तत्त्व समझना है कि-इस संसारमें शक्तिमान् तो एक है परन्तु उसकी कर्मशक्तिमें अनेकता है। उसकी कर्मशक्तिकी अनेकताका भी स्पष्ट अर्थ यह है कि उसकी कर्मशक्ति निरन्तर परिवर्तित होती रहती है। वह एकसी कभी नहीं रहती। उसके एक समान न रहनेसेही सृष्टिमें विविधता आई। परिवर्तनही सृष्टिका महाकर्म है। कर्मशक्तिकी परिवर्तनशीलताने या उसके कभी एकसी न रहनेनेही संसारमें अनेकता विविधता और भेदका आविर्भाव किया।

तत्त्व तो एकही था। वह अपनीही कर्मशक्तिकी परिवर्तनशीलतासे दो रूप हो गया। एक तो उसका परिवर्तन होते रहनेवाला रूप हो गया और दूसरा उसका न बदलनेवाला रूप रह गया। इसीको यों भी कह सकते हैं कि एक तो उसका दृश्य रूप बन गया और दूसरा उसका द्रष्टा (उस दृश्यको देखनेवाला) रूप रह गया। एक तो उसका असत् अर्थात् अस्थिर अर्थात् एकरस न रहनेवाला रूप हो गया और दूसरा उसका सत् अर्थात् स्थिर अर्थात् एकरस रहनेवाला रूप रह गया। असत्का अर्थ निरन्तर बदलनेवाला या एकरस न रह सकनेवाला। सत्का अर्थ है न बदलनेवाला या सदा एकरस रहनेवाला। अब आपने देखा कि एकही सत्ता एकही समयमें दो रूपोंमें हो गई:-

एक तो द्रष्टा बनकर सद्रूप हो गई और दूसरी दृश्य बनकर असत् रूप अर्थात् बदलनेवाला तत्त्व हो गई। इससे यह बात भी समझमें आ जानी चाहिये कि सत् या स्थिरके

होनेसेही असत् या अस्थिरको भी अस्तित्व मिला। सत् न होता तो असत् भी न होता। जैसे जलमें सिवाल-काही या गाद उत्पन्न हो जाती है इस प्रकार सत्सेही असत्को जन्म मिलता है। क्योंकि सत् है इसीलिये असत् भी है। यदि सत् न हो तो असत् भी न होता। यह न समझा जाय कि असत्का अस्तित्वही नहीं है और वह कोई रज्जु सर्प जैसा मिथ्या पदार्थ है। असत्का अस्तित्व है परन्तु वह जलके बुद्बुदकासा अस्थिर अस्तित्व है। जल और बुद्बुदमें भेद केवल इतना है कि वह जलके समान स्थिर अस्तित्ववाला नहीं है। एक और बात भी है कि असत्का अस्तित्व है तो सत्ही परन्तु उसका स्वतंत्र (अपने आप) कोई अस्तित्व नहीं है। उसके स्वतंत्र अस्तित्व न होनेका भी एक विशेष रहस्य या गुप्त कारण है कि वह प्रतिक्षण बदलनेमें लगा हुआ है। जब वह बदलनेमें लग रहा है तब उसके अस्तित्वमें स्वतंत्रता कहांसे आवे? स्वतंत्रता तो अपरिवर्तनशील स्थिर अस्तित्वमेंही हो सकती है। सत्सेही असत् उत्पन्न हुआ परन्तु वह अस्थिर सत्ता-वाला हुआ। स्रष्टासेही सृष्टि उत्पन्न हुई। परन्तु वह अस्थिर सत्तावाली हुई। स्रष्टानेही सृष्टिको उत्पन्न किया। स्रष्टाही सृष्टिरूप बना। परन्तु उसका यह रूप स्थायी या स्थिर नहीं है। जो पहले शक्तिमान् था वही पीछे शक्तिरूपमें आया। उसका शक्तिरूपमें आनाही सृष्टि-रूपमें आना हुआ। उसके सृष्टिरूपमें आनेसे सृष्टि बनी। अब आपने देखा कि सत् कैसे एकही समयमें सत् भी बना रहा और असत् भी बन गया। अब आपने जाना कि वह कैसे एकही समयमें ज्ञान भी बना और अज्ञान भी बना। ज्ञान उसका स्वरूप रहा और अज्ञान उसकी शक्ति प्रकृति या माया रहा। यह सब भेद उसी एक मूलतत्वके स्वरूप माहात्म्यरूपी बीजोंसे जम उठे।

मनुष्यको यह जान लेना चाहिये कि संसारमें दो प्रकारके पदार्थ हैं कुछ तो बदल रहे हैं और कुछ नहीं बदल रहे हैं। पहले मनुष्य इन दोनोंकी छांट करना सीखे फिर यह जाने कि जो बदल रहे हैं वे असत् हैं वे अज्ञान-रूप हैं और जो तत्व नहीं बदल रहा है जो तत्व एक रस रहता चला आ रहा है वही तत्व सत् या ज्ञानरूप है। अब मनुष्य इसी नियमसे संसार भरकी परीक्षा करे कि यहां परिवर्तनशील और अपरिवर्तनशील क्या क्या है? सद्रूप और असद्रूप क्या क्या है? तथा ज्ञानरूप और अज्ञानरूप क्या क्या है?

क्या आप संसारके स्रष्टाको देखना चाहते हो। आइये हम और आप दोनों साथ-साथ स्रष्टाको देखने चलें:- संसारका स्रष्टा किसी एक स्थानपर या किसी एक वस्तुमें तो नहीं है जो किसी एक स्थान या किसी एक वस्तुमें दीखे। वह तो संसारमें सर्वत्र व्याप्त है और सृष्टिकी प्रत्येक वस्तुमें है। वह एक किसीमें या एक किसी स्थान-पर नहीं है। वह क्यों कि सर्वत्र है इसलिये सर्वत्र और सृष्टिकी प्रत्येक वस्तुमें दीखेगा। इसीलिये दीखेगा कि स्रष्टासेही तो सृष्टि उत्पन्न हुई। आप स्रष्टाको देखना चाहो तो इस सारी सृष्टिपर एक साथ दृष्टि डालो और इस अपने विश्वव्यापी दृष्टि प्रसारकोही यह समझो कि मैं सृष्टिरूपमें रूपान्तरित स्रष्टाको देख रहा हूं। क्योंकि स्रष्टाही सृष्टि बनकर मनुष्यकी आखोंके सामने आ खडा हुआ है। सृष्टिका दर्शनही स्रष्टाका दर्शन है। इस प्रकार है जिस प्रकार सौवर्ण आभूषणका दर्शनही सुवर्णदर्शन है, क्यों-कि सुवर्ण उसका उपादान है। इसी प्रकार प्रकृतिमें स्रष्टाकेही सृष्टिका उपादान होनेसे सृष्टिदर्शनकोही स्रष्टाका दर्शन मान लेना पडता है।

यहांतकके विचारने स्रष्टा और सृष्टिका भेद तो हटाया परन्तु अब एकद्रष्टा और दृश्यका भेद फिर आकर खडा हो गया। जिस प्रकार एक तो कुम्हार और दूसरा उसे देखनेवाला ये दो होते हैं इसी प्रकार एक तो इस संसारका स्रष्टा और दूसरा उस स्रष्टाका द्रष्टा ये भी तो दो होने चाहियें। यों स्रष्टा और सृष्टिका अभेद हो जानेपर भी दूसरा भेद आ खडा हुआ और इस प्रकार फिर भी मूलमें एक तत्व नहीं रहा। यह फिर एक दूसरा गंभीर प्रश्न आकर खडा हो गया।

इसका समाधान यह है कि क्योंकि सृष्टि स्रष्टासे उत्पन्न हुई है इसलिये स्रष्टा इस सृष्टिकी प्रत्येक वस्तुमें है, इस बातको स्वीकार कर लेनेपर इसीके साथ यह और मान लेना पडेगा कि स्रष्टा सृष्टि बनकर भी अपना स्वरूप नहीं खो बैठा है। वह सृष्टि भी बन गया है और स्रष्टा भी बना हुआ है। अर्थात् वह सृष्टिसे स्वतंत्र भी बना हुआ है। वह स्वतंत्र होनेसेही इस सृष्टिको

उत्पन्न कर पाता है। यदि वह स्वतंत्र न होता तो उससे सृष्टि भी न बन पाती। स्वतंत्र स्रष्टानेही सृष्टि रची। दूसरे शब्दोंमें सत्नेही असत्को उत्पन्न किया। क्योंकि सृष्टि बनी इसी कारण द्रष्टा और दृश्य बने। यदि सृष्टि न बनती तो न तो द्रष्टा बनता और न दृश्य बनता।

स्रष्टाकी जो स्वतंत्रता है वह उससे उत्पन्न हुए द्रष्टामें भी आयी। द्रष्टाके पास यह स्वतंत्रता आयी कि वह चाहे तो दृश्य (सृष्टि) के पीछे पीछे चले अर्थात् उसके अधीन हो जाय अर्थात् अपने आपको 'मैं तो देह हूं' ऐसा समझ बैठे और चाहे तो अपनेको द्रष्टारूपमें रक्खे और अपने आपको ' मैं देह नहीं हूं ' इस रूपमें देखा करे।

द्रष्टाकी स्वतंत्रताने उसे (द्रष्टाको) दो परस्पर विरोधी अवसर दिये। अब द्रष्टा चाहे तो ऐसी भावना किया करे कि ' मैं तो सृष्टि हूं ' अर्थात् ' मैं तो देह हूं ' और ' मैं काला गोरा अमुक वंशका अमुकका पुत्र, बालक, युवा, वृद्ध, ब्रह्मचारी, गृही, वानप्रस्थी, संन्यासी आदि हूं' और चाहे अपनी भावनाको यह रूप दे कि ' मैं सृष्टिरूप नहीं हूं ' ' मैं देह नहीं हूं ' ' मैं तो इस सृष्टिका द्रष्टा अर्थात् देही हूं '। क्योंकि उसके पास दोनों प्रकारकी भावनाएं पायी जा रही हैं इसलिये मानना पड़ता है कि वह सृष्टिरूप भी है और स्रष्टारूप भी है। यदि उसके पास दोनों प्रकारकी भावनाएं न होती तो हम उसे किसी एकही रूपवाला माननेको विवश होते। प्रत्यक्षमें अस्तित्वकी शंका कैसी ? इससे मानना पड़ता है उसके द्वयरूपसे भी द्वैतका अस्तित्व सिद्ध नहीं होता।

स्रष्टाकी स्वतंत्रतासे अर्थात् उसके अपनी स्वतंत्रताके उपयोगके भेदसे मनुष्य समाजमें ज्ञानी और अज्ञानीपनेकी परस्पर विरुद्ध द्विरूपताको जन्म मिला। जब उसने अपनी स्वतंत्रताका उपयोग ज्ञानी बननेमें किया तब वह ज्ञानी हुआ और जब उसने उस अपनी स्वतंत्रताका उपयोग अज्ञानी रहनेमें किया तब वह अज्ञानी हुआ। वास्तविकता यह है कि स्रष्टृत्वही मनुष्यका सच्चा रूप है और उसीको मनुष्यको इस संसारमें आकर पहचानना और अपनाना है। परन्तु यदि वह अपने सच्चे स्रष्टारूपको भूल जायगा तो वह लक्ष्यच्युत होकर दृश्य सृष्टिके पीछे भटकनेवाला बनेगा। तब वह अपने महामहिम संपन्न रूपको भूल जानेके कारण अपने आपको दृश्य सृष्टिके साथ हिला मिला डालेगा अर्थात् अपने आपको परिवर्तनकी अवस्थामें फांस डालेगा और यों सुखी दुःखी अज्ञानी बन जायगा। यदि सौभाग्य-वश वह अपनेको दृश्य संसारके पीछे जानेसे रोक सकेगा और अपने आपको संसारके द्रष्टा रूपमें बनाये रख सकेगा तो वह दुःखी सुखी न हो सकेगा किन्तु तब वह सुख दुःखातीत ज्ञानीके अपने प्राकृत रूपमें बना रह सकेगा।

अब हमने देखा कि यद्यपि स्रष्टा एकही था परन्तु क्योंकि उसके पास सृष्टि-रचना करनेका स्वभाव था और क्योंकि उसके पास ज्ञानी और अज्ञानी बननेकी स्वतंत्रता थी इस कारण वह एकही समयमें अनेक भी हुआ और ज्ञानी और अज्ञानी दो परस्पर विरोधी रूप भी धारण कर बैठा। यहां हमने देख लिया कि सत्ही असत्को कैसे उत्पन्न कर रहा है ? यहां हमने देखा कि ज्ञानही अज्ञानको कैसे उगा रहा है। अब हम समझे कि ज्ञान, अज्ञान दोनों एकही तत्वकी उपज हैं और कैसे हैं। अब हमने देखा कि ज्ञान उसका स्वभाव है और अज्ञान उसकी शक्ति है। आप चाहे जितना परखकर देख लीजिये, द्रष्टा और दृश्य अलग अलग नहीं रह सकते और स्रष्टा और सृष्टि भी अलग अलग नहीं रह सकते। इसी प्रकार आप चाहे जितनी परीक्षा करके देख लीजिये ज्ञान अज्ञानसे रहित नहीं रह सकता और अज्ञान ज्ञानके बिना अस्तित्व नहीं पा सकता। हम समझ गये कि ये जोड़े तो साथही साथ रहते चले जायंगे। जिस प्रकार पानीपर काई या पानीमें सिवाल पैदा होती जाती है इसी प्रकार ज्ञानमेंसे अज्ञान पैदा होताही रहेगा, या ज्ञानके साथ अज्ञान लगाही रहेगा। इसलिये कहना रहेगा कि वही ज्ञानका महत्व बढ़ाया करेगा। इस सम्बन्धमें ज्ञातव्य बात इतनी होगी कि ज्ञान यदि स्वरूप होगा तो अज्ञान उसकी शक्ति होगी। शक्ति स्वयं अंधी होती है। उसे विवेकरूपी चक्षुकी आवश्यकता पड़ती है। ज्ञान विवेकरूपी चक्षु है और अज्ञान उसकी ऐसी अन्धी शक्ति है; जो कर्तव्य अकर्तव्य सब कुछ कर डालना चाहती है। परन्तु ध्यान रहे कि यह अज्ञानरूपी शक्ति ज्ञानको अवसर देने ही काममें आती है। ज्ञान और अज्ञान दोनोंके दोनों एकही समयमें एकही तत्वमें रहते

हैं। यहां हमने देखा कि कैसे अद्वैत तत्त्वमेंसे द्वैत फूट पड़ा ? कैसे एकमेंसे अनेकत्व जम उठा ? या कैसे अभेदमेंसे भेद निकल आया ? यह कोई अप्राकृत बात नहीं हुई। यह तो प्रकृतिमें दिन रात हो रहा है। न्यूनता केवल इस तत्त्वपर आंख डालनेवालोंकी है।

अब हमने देखा कि कैसे सत्के साथ असत् लगा हुआ है, और कैसे ज्ञानसे अज्ञान जुड़ा हुआ है। असत् सत्से अकेला नहीं रह सकता और सत् असत्के बिना कहीं नहीं पाता। असत्ही सत्को पानेका स्थान है। अज्ञान ज्ञानसे रीता नहीं रह सकता और ज्ञान अज्ञानके बिना नहीं पा सकता। बुराईका अस्तित्वही भलाईको अवसर देता है। बन्धन मोक्षके बिना नहीं पाता और मोक्ष बन्धनोंसे अलग नहीं रहता। बन्धन है तो मोक्ष भी है और मोक्ष है तो बन्धन भी उसके पासही है जो उससे तिरस्कृत हुआ पड़ा है। ज्ञान अज्ञान, सत् असत्, बन्धन मोक्ष, बुराई भलाई आदि ये सब अविभाज्य जोड़े हैं। ये सब सहचारी जोड़े हैं। ये सब सहर्षियोंके झुण्डकी नई साथही साथ घूमते हैं। ये कभी वियुक्त नहीं हो सकते। यह सब क्या हम सृष्टिमें दिन रात नहीं देखते ? यह क्या हम अपनेही आपमें नहीं देखते ? यह ठूंठका अपराध नहीं जो कि उसे अन्धे नहीं देखते। यह अद्वैतका अपराध नहीं है जो कि लोग प्रत्यक्ष लीला करते हुए उसको नहीं देखते।

क्योंकि सृष्टि है इसलिये स्रष्टा भी अवश्य है। स्रष्टा होगा तो सृष्टि अवश्य रहेगी। जिस प्रकार शक्ति और शक्तिमान् कभी पृथक् पृथक् नहीं रह सकते इसी प्रकार ज्ञान और अज्ञान भी कभी पृथक् पृथक् नहीं रह सकते। इसलिये नहीं रह सकते कि ये दोनों परस्पर शक्ति और शक्तिमान् हैं। ज्ञान शक्तिमान् है तो अज्ञान उसकी शक्ति है। संसारमें जैसे भौतिक प्रकाश और अन्धकारको साथही साथ लगा हुआ पाते हैं इसी प्रकार ज्ञान अज्ञान साथही साथ लगे हुए घूमते हैं। जहां प्रकाश होगा उसकी विपरीत दिशामें अन्धकार भी लगा हुआ होगा। अन्धकार प्रकाशकीही पूंछ है। अज्ञान भी ज्ञानकीही पूंछ है। ज्ञान भी तो अभौतिक प्रकाश है उसके साथ भी तो एक अभौतिक अन्धकार लगा हुआ है। जिसका नाम अज्ञान है।

अब आपने देखा कि एकही तत्त्व एकही समयमें (१) स्रष्टा (२) कर्म (३) और सृष्टि तीन तीन रूप हो जाता है। शक्तिमान् स्रष्टा है। शक्तिही उसका कर्म है। शक्तिमान्का कर्मही सृष्टिरूप (जगद्रूप) हो गया है। यों भी कह सकते हैं कि सृष्टि कर्म है, कर्म शक्ति है और वही शक्तिमान् है। आप देखें कि शक्तिमान्के होनेसेही यह त्रिमूर्ति बनी है। अब हम यह समझ गयेकि संसारके जितने अन्वेषण हैं वे सब आत्मान्वेषण कर रहे हैं। इस तत्त्वको समझनेकी देर है और मनुष्यका बेड़ा पार हुआ है। इस सिद्धान्तके विषयमें एक प्रश्न प्रायः उठता है कि जब संसार भरका तत्त्व एक है तब मनुष्य अपने शरीरसे भिन्न शरीरोंकी बातें क्यों नहीं जान पाता ? यदि हमारेही अनन्त शक्तिसम्पन्न आत्माने सृष्टि रची होती तो वह अनन्त शक्ति हममें भी तो प्रतीत होनी चाहिये थी। ऐसा न होकर हम लोग तो छोटी छोटी क्षुद्र शक्तियें लिये हुए हैं। ऐसा क्यों हुआ ? यदि हम लोग उसी शक्तिमान्के स्वरूप होते तो हम उसीके समान सूर्य, चन्द्र आदि क्यों नहीं बना सकते ? इसका क्या कारण हुआ कि वह तो सर्वशक्तिमान् तथा सर्वज्ञ रह गया और हम लोग हीन सत्त्व तथा अल्पज्ञ हो गये ? हम कैसे विश्वास करें कि हम और वह एक हैं ?

वक्तव्य उपसंहार हो आनेपर भी इस प्रश्नपर विचार होना आवश्यक है। इसका उत्तर यह है कि एक शरीरका दूसरे शरीरोंकी बात जाननेकी इच्छा उस शरीरका शारीरिक कौतूहल मात्र है। यह कोई मनुष्यकी आध्यात्मिक अर्थात् सच्ची प्यास नहीं है। जो मनुष्य अपने वास्तविक आत्मरूपको नहीं समझ पाता और अपनेको शरीररूप मान बैठता है उसीको ऐसी ऐसी अनगोल इच्छाएँ होती है कि मैं दूसरेके मनकी बात जानूं। दूसरे शरीरकी बात जाननेकी इच्छा मनुष्यका अपने स्वरूपको भूल जाना है। यह मनुष्यकी अपने शरीरकोही आत्मरूप समझ लेनेकी एक अवस्था है। जिस दिन मनुष्यकी ज्ञानचक्षु खुलेगी और वह अपने आपको शरीर समझना छोडेगा उस

दिन उसे दीखेगा कि मैंही ज्ञानरूपमें सबमें स्थित अर्थात् विश्वव्यापी तत्त्व हूं। 'मैं ही सबमें स्थित हूं' का अर्थ है कि मेरा जो स्रष्टा रूप है, वह तो सबमें है और वह सबमें रहकर सबको जानही रहा है। सृष्टिरूपही सबका पृथक् पृथक् है। स्रष्टारूप तो सबका एकही है। यह तो ठीकही हो रहा है कि एक शरीर सब शरीरोंको नहीं जान रहा है। वह इसलिये हो रहा है कि शरीर तो स्रष्टा नहीं है। स्रष्टा तो शरीरी है जो समस्त जगत्का अद्वैत आत्मा है। शरीर तो सृष्टि है। वह (शरीर) अनन्त रूपोंमें स्थित नहीं है। वह तो एकही रूपमें स्थित है। उसे किसीको जाननाही क्यों चाहिये था? स्रष्टाही अनन्त रूपोंमें स्थित है क्योंकि वही अनन्त रूप हुआ है। वह क्योंकि सामान्य रूप है इससे वह सबको सामान्य अहंके रूपमें जानताही है। जिस प्रकार आपका क्षुद्र अहं इस शरीरमें रहकर इसे जान रहा है इसी प्रकार इस विश्वका विराट् आत्मा पूर्ण अहं सब शरीरोंमें रहकर इन सबको अपने ढंगसे जानही रहा है।

एक किसी शरीरमें रहते हुए उससे दूसरे किसी शरीर-की बात जाननेकी इच्छाका अर्थ मनुष्यका आत्मभाव छोड़ना और देहभाव धारण कर लेना है। दूसरोंके शरीरोंकी बात जाननेकी इच्छा किसे होती है? यह एक प्रश्न है। विचारने खोज कर मनुष्यको बताया है कि दूसरोंके शरीरों की बात जाननेकी इच्छा मनुष्यकी इन्द्रियोंको होती है। यह इच्छा मानवीय इन्द्रियोंका कौतूहल है। यों भी कह सकते हैं कि यह इच्छा इन्द्रियोंकी उत्सुकता मात्र है। यह मांग मनुष्यके आत्मरूपकी मांग नहीं है। इस प्रकार-की इच्छा मनुष्यके अज्ञानी होनेपरही हो सकती है। अज्ञानी बने बिना मनुष्यको अपनेसे भिन्न वस्तुको जान-नेकी इच्छाही नहीं हो सकती। जाननेकी इच्छाही अज्ञान कहाती है। जिज्ञासाकी निवृत्तिही ज्ञानका स्वरूप है। जिज्ञासा नास्तिकता है। ज्ञानही आस्तिकता है। इच्छाका समाप्त हो जानाही ज्ञान है।

अब आप समझे कि आप कौन तत्त्व हो? आप हो स्रष्टा। यदि आपने अपना यह स्रष्टा रूप समझ लिया तो आपका बेड़ा पार हो गया और आपकी जाननेकी इच्छा भी मर गयी। अब आपको संसारका मूल रूप समझमें आगया। अब आपको अपनेसे भिन्न किसी भी पदार्थको जाननेकी इच्छा कैसे होगी? अब आपने देखा कि एकही तत्त्व संसारमें हम आप आदि रूपोंमें कैसे स्वयं विद्यमान् है। वही तत्त्व सूर्यमें सूर्यरूप होकर रह रहा है। वही तत्त्व चन्द्रमें चन्द्ररूप होकर रह रहा है। वही तत्त्व ज्ञानीमें ज्ञानरूप होकर बस रहा है। वही तत्त्व अज्ञानीमें अज्ञान-रूप होकर लीला कर रहा है। वही तत्त्व दातामें दातारूप होकर और वीरमें वीरतारूप होकर स्थित है। कहांतक कहें, स्वामी, दास, राजा, प्रजा, दीन, दुखिया, धनी, निर्धन, हम, आप आदि सब कुछ वही है। उसने अपने एकत्वका मधुर आनन्द लेनेके लियेही अनेकत्वकी काल्पनिक सृष्टि की है और वह उसे काल्पनिक ज्ञानास्त्रसे मार मारकर अनन्त मार्गोंसे एकत्वकी झाँकी ले रहा है।

यदि आप ज्ञानी हो जाओगे तो ये सब बातें केवल दन्तकहानी नहीं रहेंगीं। तब आपको आपकी अनुभवकी आंखोंसे स्पष्ट दीखेगा कि आपही सर्वत्र हो और आपही सब कुछ हो। तब आप देखोगे कि आप स्रष्टारूपसे तो सर्वत्र हो और सृष्टिरूपसे आप एकदेशी हो, अब आपकी बुद्धि पर्यायसे दोनों आंखोंमें आती जाती रहनेवाली कव्वेकी पुतलीकी भाँति द्वैत और अद्वैत संसारमें अर्थात् कभी तो विश्वभरमें और कभी शरीरमात्रमें विचरण करती रहेगी। जैसे दुभाषिया दोनोंकी बातोंका आनन्द लेता है इसी प्रकार अब आप विश्वव्यापिताका भी आनन्द लेते रहोगे और साथही भिन्न भिन्न दैहिक अस्तित्वोंका भी अनुभव करते रहोगे। अब आपकी स्थिति आधे तो शीतल गंगाजलमें डूबे हुए और आधे शरीरपर धूप खाते हुएकीसी होगी। अब आपको द्वैतदुःख दुःखी नहीं करेगा। अब आप द्वैतदुःखकी उपस्थितिमें भी अद्वैत-माधुर्यका अनुभव लेते रहोगे। हां, जबतक आप अज्ञानी रहोगे अर्थात् जबतक आप इन्द्रियोंकी दर्शनशक्तिपर विश्वास करके उनकी मांगोंके पीछे भटकनेवाले और इन्हींको अपना स्वरूप माननेवाले बने रहोगे, तबतक आप अपने आपको इसी एक शरीरमें बन्दी बना हुआ पाते रहोगे। जबतक आप अज्ञानी रहोगे तबही तक आपको नाना विषयोंको जाननेकी इच्छा उठती रहेगी।

आप विचारो कि जाननेकी इच्छा क्या है? जाननेकी

इच्छा इतनी महत्त्वपूर्ण वस्तु नहीं है जितना कि लोगों-ने इसे महत्त्व दे डाला है। जाननेकी इच्छा ऊपरसे देखनेही देखनेमें महत्त्वयुक्त लगती है। जाननेकी इच्छा मनुष्यका अज्ञान है। यह उसका अज्ञानी स्वभाव है। इसके साथही ज्ञानका स्वरूप भी सुन लीजिये कि जाननेकी इच्छाका हट जानाही ज्ञान है और यही ज्ञान-की पहचान है। जाननेकी इच्छाका हट जाना मनुष्य-जीवनकी सबसे ऊंची अवस्था है। मनुष्य-जीवनकी इसी सर्वोत्तम अवस्थाको उसकी अनासक्त अवस्था कहा जाता है। जिस दिन मनुष्य-जीवनमें अनासक्ति आवेगी उस दिन उसका जीवन पलटा खा चुका होगा और उस दिन उसे इस बातको जाननेकी इच्छाही शेष न रहेगी, कि मैं दूसरोंके शरीरोंमें होनेवाली बातोंको जानूं।

प्राकृत वक्तव्य यही है कि मनुष्यको यह जो बाह्य और आभ्यन्तरका भ्रम हो गया है इसका एक कारण तो उसकी अपनी शक्ति है जिसे माया कहते हैं और दूसरा कारण उसका शक्तिजन्य देहाभिमान है। आत्माकी शक्ति और आत्मा दोनों अग्नि और उसकी दाहक शक्तिके समान अभिन्न हैं। परन्तु इन दोनोंकी इस अभेदात्मक स्थितिके बीचमें उसकीही मायासे अज्ञानरूपी काल्पनिक परदा बनकर टंग गया है और इसे फाड डालनेके लिये ज्ञानरूपी काल्पनिक हथियार पकड लिया गया है। आत्मा इस हथियार-से अज्ञानको मारकर वारंवार अपनेही अखण्ड सच्चिदानन्द रूपका दर्शन, स्पर्श तथा संभोग और अन्तमें उसीमें तल्लीन हो जानेकी विचित्र अनन्त लीला कितने अनन्त मार्गोंसे कबसे कर रहा है और कबतक करता रहेगा यह सोचतेही बुद्धि अपना काम छोडकर खडी हो जाती है और इसी आत्मसागरमें डूबकर आत्मरूप हो जाती है। यहां हमने देखा कि आत्माकीही स्वरूपादिदृक्षाकी कृपासे यह समस्त संसार दीख पड रहा है। यदि आत्मामें स्वरूपदर्शने-च्छा न होती तो यह संसार अंधा हो जाता। इसीको उप-निषदोंमें 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्। तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' कहा है।

'वेदोंकी अपौरुषेयता

(ले० श्री- पं० रामावतार, रतनगढ, जि० बिजनौर यू० पी०)

वेद बने हैं, और उन्हें तत्त्वज्ञानी ऋषियोंने बनाया है इसमें कोई संदेह नहीं। इसके साथही वे अपौरुषेय हैं इसमें भी कोई संदेह नहीं। परन्तु वेद नामवाले ज्ञान-ग्रन्थोंके सम्बन्धमें यह बात बहुतही न्यून सोची जा रही है कि वे कैसे बने? और उन्हें किस योग्यतावाले लोगोंने बनाया? इस बातको सोचनेमें एक बडी भारी रुकावट वेदोंका 'अपौरुषेय' प्रसिद्ध होना हुआ। अपौरुषेय शब्द-का अर्थ रहस्यमय है। बिना बताये समझमें न आनेवाली बात रहस्य कहाती है। बहुधा लोग अपौरुषेय शब्दका गूढ अभिप्राय नहीं समझ पाते। वेदोंको अपौरुषेय कहनेवाले आदि वक्ताका जो अभिप्राय था वह समय बीतते बीतते समाजकी स्मृतिसे उतर गया। अब उसका आदिवक्ताके अभिप्रायसे विरुद्ध केवल यह मोटासा अर्थ शेष रह गया कि इनका रचनेवाला कोई पुरुष नहीं है। अपौरुषेय शब्द-की यह व्याख्या वास्तविकताके विरुद्ध है। क्योंकि प्रत्येक कार्यका कोई न कोई कर्ता होनाही चाहिये। इस व्याख्याने मनुष्योंको वेदोंके निर्माणके विषयके जिस स्वयंसिद्ध महान् सत्य सिद्धान्तको ढूंढना चाहिये था उसे ढूंढनेके लिये आगे सोचनेसे रोक दिया और वेदोंके निर्माण विषयके स्वयंसिद्ध सत्यकी अवहेलना करवा डाली। वेदोंका प्रेमी मनुष्य समाज इस बातको ध्यानमें नहीं रख सका कि किसी पुरुषके वेदोंके कर्ता होनेका निषेध करनेके पीछे वक्ताका कौनसा गंभीर अभिप्राय था? वास्तवमें 'अपौ-रुषेय' शब्दका यह अर्थही नहीं था जो आजकल बहुधा किया जा रहा है कि 'उन्हें किसी पुरुषने नहीं बनाया' किन्तु यह था कि इन्हे किन्ही ऐसे पुरुषोंने नहीं बनाया जो अपनेको मनुष्य देहके रूपमें माननेवाले देहात्मवादी अर्थात् किसी क्षुद्र अहं या क्षुद्र व्यक्तित्वके वशीभूत थे। इन्हे तो उन विदेह महापुरुषोंने बनाया जो अपनेको देहात्मा नहीं मानते थे, जो मनुष्यदेहातीत अपुरुष विदेह-मुक्त हो चुके थे, जो क्षुद्र दैहिक सत्ताके बन्दी नहीं रहे थे अर्थात् जो मनुष्यदेहमें न रमकर सदा चिन्मय देहमें रमे रहते थे और अपने देहोंको विश्वमें गुंजारती हुई ईश्वरीय वाणीको सुनने और पकडनेका यन्त्र बना चुके थे। सचमुच ऐसेही मनुष्य ऐसा वेदों जैसा सच्चा ग्रन्थ बना सकते हैं। ऐसे लोग स्वलिखित ग्रन्थका स्वलिखित कहना भी अपना अधिकार नहीं देखते। वे समझते हैं कि ज्ञानग्रन्थ हमने नहीं लिखे किन्तु हमारे विधाताने हमें अपना सृष्टि-ग्रन्थ पढाकर जो ज्ञानदान किया है उस ज्ञानका हमने दर्शन किया है और उसको उसने हमसे लिखवा लिया है। जो लिखवाता है वही लेखक होता है। हाथमें लेखनी पकडनेवाला तो लिखवानेवालेके हाथका यन्त्र मात्र होता है। ऐसे लोगोंका विश्वास है कि हमारे विधाताने जो जो सत्य हमारे जीवनमें एवं हमारे हृदयमें प्रतिध्वनित किये अर्थात् सुनाये हैं हमने उन्हींको इस ग्रन्थमें संगृहीत किया है। इन वेदोंमें प्रतिपादित सत्योंको हमने नहीं बनाया, किन्तु ये ईश्वरीय प्रेरणा या ज्ञानके रूपमें हमें सुनाये गये हैं। इसी विश्वाससे वेदोंका सं-कलन करनेवालोंके नाम ऋषियोंकी सूचीमें अंकित हैं और वे कृतज्ञतासे स्मरण करनेके लिये समाजको दिये गये हैं। कौन कह सकता है कि वेदोंको इन ऋषियोंने नहीं बनाया?

इसमें संदेह नहीं कि वेद नामके ज्ञानग्रन्थोंको कोई भी देहात्मवादी पुरुष नहीं बना सकता था। क्योंकि देहात्मवादी लोगोंका इन्हें बनाना तो दूर रहा वे तो यह भी नहीं समझ सकते कि इनमें क्या लिखा है? जबतक मनुष्य देहात्मवाद नामका अर्थात् मैं देह हूं इस प्रकारका कुविश्वास नहीं छोडेगें तबतक वेदोंके भाष्यतक बनकर भी वैदिक तत्त्वज्ञानसे वेदद्वेषियोंके बराबरही दूर रहेंगें। केवल वेदोंका ढोल बजानेसे कोई वेदज्ञ नहीं बन जाता। किन्तु देहात्मवाद त्यागनेसेही वेदज्ञ होनेकी योग्यता आती है। वेदोंको समझनेकी एकमात्र युक्ति मनुष्यका

देहात्मवाद छोड देना है। देहाध्यास छोडनेपर मनुष्य अनपढ होनेपर भी सच्चा वेदज्ञ बन जाता है। जो देहात्मवाद या देहाध्यास, अर्थात् अपने दैहिक सत्ता होनेका विचार नहीं छोड चुका होगा, वह कदापि वेदोंको नहीं समझ सकेगा। जो वेदोंको समझना चाहे उसका सबसे पहले और सबसे पिछला यही काम है कि वह देहात्मवादको छोडे। देहात्मवादका त्यागही वेद समझनेकी एकमात्र योग्यता है। यदि देहात्मवाद नहीं त्यागा जायगा तो मनुष्यका वेदज्ञ बनना मरुजल पिपासाके समान दुराशाही दुराशा रहेगा। ऐसा मनुष्य वेदोंके विषयपर जो कुछ कहेगा, लिखेगा या विचारेगा सबमें उसकी अनभिज्ञताका प्रदर्शन हुए बिना नहीं रहेगा।

देहात्मवाद वह मनोदशा है जो वैदिक सिद्धान्तोंके सर्वथा विरुद्ध और विघ्नरूप है। देहात्मवाद वैदिक मन्तव्योंको नहीं समझने दे सकता। वैदिक मन्तव्योंका जो मर्मज्ञान है वह मनुष्यकी देहात्मबुद्धिसेही रुका हुआ है। वैदिक मन्तव्योंका मर्म समझना केवल देहात्मबुद्धिके त्यागकेही ऊपर निर्भर है। देहात्मवादका त्यागही वैदिक मन्तव्योंको समझनेकी एकमात्र ताली है। जो इस तालीको हाथमें लिये बिना वैदिक ज्ञान-भंडारका ताला खोलने जायगा वह वैदिक ज्ञान-भंडारमें प्रवेश नहीं पा सकेगा और उस भंडारकी मणि मुक्ताओंका स्पर्श नहीं कर सकेगा। ऐसे लोगोंको ध्यानमें रखकरही निरुक्तकारने सावधान वाणी कही है।

' नैतेषु ज्ञानमस्त्यनृषेरतपसो वा '

अऋषियों और अतपस्वियोंके लिये वेदोंमें ज्ञान नहीं है। जबतक वेदोंका पाठक स्वयं अपने आपको ऋषि और तपस्वी न बना चुका होगा तबतक उसे वेदोंमेंसे ज्ञान हाथ नहीं आवेगा। ऋषि हुए बिना मनुष्यका वेदोंसे कोई लाभ उठाना संभव नहीं है। वास्तवमें वेद उन दिनरात मननशील मुनियोंके मनमें सुनाई पडनेवाली ध्वनि है, जिन्होंने अपना देहात्मवाद मिटा डाला था और जो अपने आपको विश्वव्यापी अविनाशी तत्वमें विलीन देखना जान चुके थे। ये मुनिलोग विश्वव्यापी आत्मतत्वसे अपनी कोई पृथक् सत्ता न रखकर विश्वव्यापी आत्मसत्ताके साथ एकरूप हो गये थे। ये पुरुषविशेष न रहकर सामान्य आत्मरूप हो चुके थे। इन लोगोंकी इस प्रकारकी उदारतम मनोदशाको सुव्यक्त करनेके लियेही इनके बनाये ग्रन्थको ' अपौरुषेय ' कहा गया था। ये लोग उस विश्वव्यवस्थाके हाथके यन्त्र बन चुके थे जो समय समयपर मनुष्यको सदाही ज्ञानदान करती रहती है। वेदोंको संसारमें लानेवाले लोग आत्मदर्शी थे। आत्मदर्शी होतेही मनुष्यके मनमें ईश्वरीय ध्वनियां सुनाई देने लगती हैं। आत्मदर्शियोंको पदपदपर संसारपर शासन करनेवाले सिद्धान्त और सचाईयां प्रत्यक्ष ज्ञात होने लगती हैं। आत्मदर्शियोंको सुनाई दिये हुए सत्यही आज हमें वेद नामके ज्ञानग्रन्थोंके रूपमें मिल रहे हैं।

जिसने वेदोंको सबसे पहले ' अपौरुषेय ' कहा था उसका उन्हें ' अपौरुषेय ' कहनेका वही अभिप्राय था जो ऊपर बताया है। दूसरे शब्दोंमें ऋषियोंने वेदोंको नहीं बनाया, किन्तु उन्होंने उन्हें संसारमें प्रतिध्वनित होते हुए सुना और सुनकर उन्हें ग्रन्थका रूप दिया। उन्होंने देखा कि ये सब सिद्धान्त हमारे बनाये हुए नहीं हैं, हमने तो इन्हें पहचाना है। ये तो संसारके अनादिसिद्ध रहस्य हैं। इसी अर्थमें उन्होंने वेदोंको अपौरुषेय कहना उचित समझा। यों वेद उनके द्वारा प्रकट हुए।

वेदोंके विषयमें यह एक और निराधार विश्वास पाया जाता है कि अब वेदोंकी रचना बन्द हो गई है और वह केवल सृष्टिके प्रारंभमें होनेवाली बात थी। वास्तविकता यह है कि जबतक सृष्टि रहेगी तबतक इसमें जितने पवित्रमान हृदय आयेंगे उन्हें वेदध्वनि निरंतर सुनाई देती रहेगी। वेदध्वनि तो आज भी प्रत्येक मानव हृदयमें सुनाई दे रही है। मनुष्यके विधाताने किसी भी मनुष्यको उसके जीवनमार्गकी मशालरूपी ज्ञानचिन्ता अर्थात् वैदिक तत्वज्ञान दिये बिना नहीं भेजा। उसने एक भी मनुष्यको अपनी ओरसे ज्ञानी लोक पानेके लिये दूसरेपर (पुस्तक या गुरुपर) निर्भर बनाकर नहीं भेजा। उसने प्रत्येकके हृदयमें जीवनके पथदर्शकके रूपमें ज्ञानज्योति जलाकर भेजी है। परन्तु देहमें जो मनुष्यकी अहंभावना है वह एक ऐसा महाविघ्न है जिसके कारण ज्ञानज्योति अदृष्ट वेदध्वनि अनसुनी होती रहती है। जबतक मनुष्य देहकोही अपना आप समझना नहीं छोडेगा, अर्थात् जब-

तक वह देहमेंही अहंभावनासे बंधकर बैठा रहेगा, तब-तक वेदध्वनिको सदा सुनते हुए भी अनसुनी करता रहेगा। मनुष्य देहात्मवादको छोडतेही संपूर्ण सत्य मन्त्र-द्योंका ज्ञाता बन जाता है। वह देहात्मवादको त्यागतेही वेदज्ञ तथा वेदनिर्माता बन जाता है। उसे देहात्मवाद त्यागतेही वेदध्वनि सुनाई देने लगती है। ऐसा मनुष्य जो कुछ कहता है वही वेद होता है। जो सोचता है वही उपनिषद् होता है, जो करता है वही वेदानुकूल आचरण होता है। ऐसे मनुष्यका आचरण वेद वेदान्तोंकी मूर्ति-मती टीका और भाष्यरूप हो जाता है। देहात्मवादका मिट जाना मानवजीवनकी असाधारण घटना है। इस घटनाके घटतेही मानवजीवन धन्य धन्य और बारबार धन्य हो जाता है। देहात्मवाद मिटतेही मनुष्यको ईश्वरीय अनक्षर भाषा स्पष्ट सुनाई देने लगती है और उसे ऋषि बना देती है। मनुष्य इन ईश्वरीय भाषाओंको जिन्हें वेदध्वनि कहना चाहिये, वंश-परंपरासे सुरक्षित रखकर कालान्तरमें उन्हें पुस्तकोंका रूप दे देता है। समय पाकर येही पुस्तकें वेद कहाने लगती हैं। यही वेदरचनाका अनादिसिद्ध संक्षिप्त इतिहास है।

प्रश्न होता है कि क्या ज्ञानग्रन्थोंका लिखित होना अनि-वार्य है? तथा क्या संसारमें इन लिखे हुए ज्ञानग्रन्थोंसे दूसरा अलिखित और अलिपिबद्ध ऐसा ज्ञानग्रन्थ नहीं है जिसे विधाताका साक्षात् लेख या रचना कहा जा सकता हो? वर्णात्मक लेख और भाषा दोनों मानवीय मस्तिष्ककी उपज या उसकी कृत्रिम व्यवस्था है। मानवीय भाषा-वाला लेख मानवीय रचना है, साक्षात् ईश्वरकी नहीं। लिपि या लेख स्रष्टाका स्वाभाविक विधान नहीं है। जब कि लेख मानवीय रचना है और स्रष्टाकी स्वाभाविक रचना नहीं है तब क्या संसारमें मनुष्यको अपने विधाताके संदेश और शिक्षा प्राप्त होनेका लेखसे दूसरा कोई स्वाभा-विक प्रबन्ध नहीं है जिसे लेखको न जाननेवाले भी जान सकें? क्या सृष्टिमें लिखित ज्ञानग्रन्थोंके अतिरिक्त ऐसा कोई ज्ञान-भंडार नहीं है जिसे 'वेद' कहा जा सकता हो? यदि संसारमें लेख बन्धनसे रहित ऐसा कोई ज्ञान-भंडार न हो, और मनुष्यको लिखित पुस्तकोंके पन्नोंमेंही ज्ञानको सुरक्षित मानना पडता हो और केवल उन्हींमेंसे ज्ञान ढूंढना स्वीकार करना पडता हो तो विचार करने-वाले मनुष्यके मनमें निम्न प्रश्न उठते हैं और अपना समा-धान मांगते हैं कि ज्ञानग्रन्थ कहांसे आये? उनमें स्वयं ज्ञान है या उनमें किसी ज्ञानीका ज्ञान लेखका रूप धारण करके आया है? ज्ञानग्रन्थोंसे ज्ञानी उत्पन्न हुए या ज्ञानियोंने उनको उत्पन्न किया? इन प्रश्नोंका स्वाभाविक उत्तर यही है कि ज्ञानी लोगोंने ज्ञानग्रन्थ (पुस्तकें) बनाये, ज्ञान-ग्रन्थोंसे कोई ज्ञानी नहीं बना। ज्ञानग्रन्थोंमें ज्ञान नहीं है, उनमें ज्ञानी लोगोंकाही ज्ञान लिख लिया गया है। इस विचारके सामने मनुष्यको निःशंक होकर स्वीकार करना पडेगा कि ज्ञानग्रन्थों अर्थात् पुस्तकोंसे किसी मनुष्यको ज्ञान प्राप्त होना संभव नहीं है। यदि ज्ञानग्रन्थों-में किसीको ज्ञान मिलेगा भी तो केवल उसीको मिलेगा जो पहलेसे स्वयं ज्ञानी होगा। जो स्वयं पहलेसे ज्ञानी न होगा उसे ज्ञानग्रन्थोंमेंसे भी ज्ञान नहीं मिल सकेगा, प्रत्युत उसे वहां भी त्याज्य अन्धेराही अन्धेरा दिखाई पडेगा। वह कह उठेगा कि इनमें कुछ नहीं है, ये तो असभ्योंके गीत हैं। उसे ज्ञानग्रन्थोंकी भाषा निरर्थक दीखेगी। इसलिये दीखेगी कि उसका मन वैदिक ऋषियोंके भावमय जगत्से अपरिचित है।

मनुष्य सबसे पहले बिनाही ज्ञानग्रन्थोंके ज्ञान लाभ करता है। ऐसे ज्ञानी लोगोंमेंसे कुछ लोग स्वभावसे लेखक भी होते हैं। जो लेखक होते हैं वे तो अपने ज्ञान-को ज्ञानग्रन्थों (पुस्तकों) का रूप देही देते हैं। परन्तु सब ज्ञानी लेखक नहीं होते। जो ज्ञानी लेखक नहीं होते और पुस्तकें नहीं लिख पाते, ज्ञान तो उनपर भी लेखक ज्ञानियोंके समानही होता है। ज्ञानी मनुष्य लेखक हो या न हों दोनों प्रकारके ज्ञानियोंके जो हृदय हैं वेही जी-वित ज्ञानग्रन्थ या साक्षात् वेद हैं। ज्ञानी मानवोंके जीवित हृदयही ईश्वररचित वेद हैं। जो ज्ञानी लेखक नहीं है उसके सम्बन्धमें जीवनकेही ज्ञानग्रन्थ होनेकी बात स्पष्ट समझमें आ जाती है। क्योंकि उसने जगत्को कोई ज्ञानग्रन्थ नहीं दिया, किन्तु अपने आपको-ही जगत् के सामने जीवित ज्ञानग्रन्थके रूपमें उपस्थित कर रक्खा है। इस ज्ञानीके संपर्कमें आनेवाले लोग इसके

जीवनकोही देख देखकर इससे ज्ञानका लाभ करते रहते हैं। वे इसके जीवनकोही अपना पाठ्य ज्ञानग्रन्थ बना लेते हैं। इस घटनासे सिद्ध होता है कि ज्ञानी लोगही साक्षात् ईश्वरके वेद हैं। ऐसे ज्ञानीका भौतिक देह नष्ट हो जानेपर भी, और उसके हाथोंसे कोई ज्ञानग्रन्थ न लिखा जानेपर भी, और उसके किसीको अपना ज्ञान बतानेका अवसर न मिलनेके कारण अपना ज्ञान बिना बतायेही इस संसारसे चले जानेपर भी सृष्टि भरमेंसे वेदोंका या यों कहें कि ज्ञानका लोप नहीं होता। संसारमें देखा जाता है कि ज्ञानी लोगोंके इस संसारसे चले जानेपर भी इन लोगोंका जो ज्ञानमय रूप है या जो इन लोगोंकी पवित्र मानसिक स्थिति है उसका जगत्मेंसे बीज नाश नहीं हो जाता; किन्तु वह किसी न किसी ज्ञानीमें अमर रहताही चला आता है। देखते हैं कि उनके पीछे आनेवाले दूसरे ज्ञानी भी उनकीसीही ज्ञानरूप मानसिक स्थितिको लेकर आते रहते हैं। ज्ञानी लोगोंके पांचभौतिक अस्तित्वके लुप्त हो जानेपर भी उन लोगोंका ज्ञान त्रिकालमें उत्पन्न होनेवाले ज्ञानी लोगोंके हृदयग्रन्थोंमें आश्चर्यमय रूपसे निरंतर सुरक्षित रहता चला आता है। आजका, भूतका और भावीका सब ज्ञानी एकसे होते हैं। सबके सब एकसाही ज्ञान समाचार लेकर आते हैं। सब भोगमय जीवनको ठुकराते आते हैं और सब त्यागको अपने जीवनका सर्वस्व मानते आते हैं। सब देहध्याससे विहीन विदेह बनकर आते हैं। सब एकसी ज्ञानवार्ता कहते आते हैं। सिद्ध हुआ कि सबके सब ज्ञानी एकही ज्ञानभंडारसे ज्ञानामृत पा रहे हैं; और पा रहे हैं। निष्कर्ष यह है कि ज्ञानग्रन्थरूपी वेद पुस्तकोंमें सीमित नहीं है; किन्तु ज्ञानी लोगोंके जीवनोंतक विस्तृत है। ज्ञानी हृदयोंका महत्त्व ज्ञानग्रन्थोंसे लाखों गुना अधिक है। वैदिक तत्त्वज्ञान ज्ञानग्रन्थोंका बन्दी नहीं है। वह ज्ञानी मानव-हृदयोंकीही संपत्ति है। ज्ञानी लोगोंका जीवित ज्ञानही सच्चा अपौरुषेय वेद है। पुस्तकरूपी वेद इसी चेतन वेदका जड प्रतिनिधि है। पुस्तकोंमें जो ज्ञान है वह मृत और अव्यावहारिक अवस्थामें रहता है। जबतक ज्ञानको मानव-हृदयमें विकसित होनेका और व्यवहारमें आकार खरा उतरनेका अवसर नहीं मिलता तबतक वह ज्ञान ज्ञान नाम पानेका अधिकारीही नहीं होता। ज्ञानी लोगोंके हृदयोंमें विकसित हुआ और उनके व्यवहारमें आया हुआ ज्ञानही वेद नामक पुस्तकरूपी ज्ञानग्रन्थोंमें संक्रान्त हो जाता है। यह तो सर्वथा निश्चित है कि ज्ञानीमें ज्ञानग्रन्थरूपी वेदोंसे ज्ञान नहीं आया है। ज्ञानी अपने आप ज्ञानी बना है और उसने वेद बनाये हैं। परन्तु उसने वेद बनानेका कर्तापन अपने पास न रक्खा किन्तु श्रोतापनही अपने पास रक्खा। इसीसे वेद श्रुति भी कहलाये। उसे वेदोंके कर्तापनको अपने विधाता विश्वात्माके चरणोंमें समर्पित कर देना पडा और इसीमें उसे दिव्य आनन्द आया। ज्ञानीके इस समर्पणमेंही वेदोंके अपौरुषेय होनेका रहस्य निहित है।

समाज-सुधार

(लेखक- श्री० लालचंद)

व्यक्तित्वका विकास

व्यक्तिके सुधारके विना समाजका सुधार नहीं हो सकता। गंभीरतासे देखा जाय तो समाज सुधारकी समस्या-व्यक्तिके सुधारकीही समस्या है। इसलिए सारे यत्न जो समाजमें नवजीवन प्रसारके लिए किये जायं, अवश्यही अपने निजी जीवनमें सजीवता लानेसे आरंभ होने चाहिये। आजकल जबकि रोग और निर्धनता, अज्ञानता और दरिद्रता और स्त्रियों और बालकोंकी नितांत विवशता सब जगह दीख रही है, तो उनके लिए जो ऐसी परिस्थितिमें भी समर्थ हैं और योग्यता रखते हैं, सेवाके लिये और समझदार लोगोंमें नागरिक जिम्मेदारी और परस्पर सहायताके भाव दृढ करनेके कार्यके लिए, विस्तृत कार्यक्षेत्र खुला हुआ है। किन्तु सेवाका क्षेत्र जैसा विस्तृत है वैसा सुगम नहीं है। सैकडों बाधाएं उपस्थित होती हैं। यह मार्ग कंटकाकीर्ण है, और इसमें गढे गढोले बहुत हैं। समाज-सेवाका कार्य जितना विशाल है और उच्च है, तथा मनुष्यको उन्नत करनेवाला है, उतनाही कठिन है। कठिनाइयां पग पगपर उपस्थित होती हैं।

कोई भी सेवाका कार्य पूरा होना दुष्कर हो जाता है जबतक कि कार्यकर्ताका व्यक्तित्व विकसित न हो चुका हो, और उसके अन्दर चैतन्य, विवेक तथा विशुद्ध प्रेम न हो। जबतक कोई व्यक्ति अपने आपको उन्नत नहीं कर लेता, अपने आपपर दिन प्रतिदिनके व्यवहारमें आनेवाली वासनाजनित क्षोभ तथा स्वार्थकी प्रक्रियाका नियमन नहीं कर लेता, उसे सार्वजनिक कार्यक्षेत्रमें किसी उत्तेजनाके वशीभूत होकर नहीं कूद पडना चाहिये। मनुष्यको अपने अन्दर परिवर्तनकी आवश्यकता है जिससे वह कामलिप्सा तथा लालचपर विजयी हो जाय। **बिना निजी सुधारके जो व्यक्ति समाज-सुधारके कार्योंमें पड जाते हैं वे ध्येयसे गिर जाते हैं, और सार्वजनिक कार्यकी गतिमें रुकावट पैदा करते हैं।**

समाज-सुधारके कार्योंके लिए सुशिक्षित कार्यकर्ताओंकी परम आवश्यकता है। ऐसे मनुष्य चाहियें जो मिलकर काम करनेकी क्षमता रखते हों, जिनकी दृष्टि शुद्ध हो, जिनपर जनता विश्वास कर सके, जो बोलते कम हों और चुपचाप काम करनेके अभ्यासी हों, जिनका आचार पवित्र हो। समाजमें काम करनेमें झूटे अपवाद होते हैं और निराधार कलंक भी लगा करते हैं। जो लोग साधारण जनताको अपने ढोंगोंसे निरंतर ठगते और उनके धनको निरंतर किसी न किसी बहाने उनसे लेते रहते हैं, यहांतक कि इस प्रकार सहते हुए जिनका जीवन रक्त चूसा जा रहा है उन्हे अपने आपको लुटवानेकी आदत पडचुकी है, वे समाज-सुधारकोंपर नाना प्रकारके लांछनतक लगानेसे नहीं चूकते।

समाज-सुधारके काममें अक्षय धैर्यकी आवश्यकता है। यदि कार्यकर्ताका व्यक्तित्व महान् नहीं है तो उससे काम न हो सकेगा या उसके कामका यथेष्ट परिणाम न निकलेगा। इसलिए यह सर्वथा सत्य है कि **समाज-सुधार व्यक्ति-सुधारपर निर्भर है और वह अपने सुधारपर विशेषतः अवलंबित है।**

व्यक्तिको आदर्श महान् होना चाहिये तभी वह अपने उद्देश्यमें सफल होगा। जो लोग केवल सोने, जागने, खाने-पीने आदि निजके कामोंमेंही दिनचर्या समाप्त कर दिया करते हैं, या समय मिल गया तो ताश, शतरंज, चौपड आदि खेलते रहते हैं वे किसी भी त्याग और साहस के कार्यके लिए उपयोगी नहीं देखे गए। जिसमें उन्नतिकी आकांक्षा है उसे समयका मूल्य समझना चाहिये और अपनी परिस्थितिको हर पहलूसे उन्नत करनेमें यत्नशील होना चाहिये। ऐसे बहुत हैं जिन्हें कालिजकी ऊंचे दर्जेकी शिक्षा नहीं मिल सकी किंतु उन्हें मालूम होना चाहिये कि

कालिजकी ऊंची शिक्षा उतनी सहायक नहीं होती जितनी कि अपने यत्नसे प्राप्त की हुई शिक्षा जीवनकालमें साथ देती है। एक कालिजके ग्रेजुएटसे जिसने पढाई समाप्त करनेके बाद मामूली घरेलू जीवनचर्या रक्खी है, वह मनुष्य, जो अपने आपको सुशिक्षित बनानेका कोई भी अवसर नहीं खोता, अधिक योग्य हो जाता है।

संसारके स्थायी कार्य अनुभवशील आत्म-सुधारकोंके द्वाराही हुए हैं जिन्होंने अपनी शारीरिक, मानसिक तथा बौद्धिक अवस्था निरंतर उन्नत की है। व्यक्तित्व इसी प्रकार बनता है। ऐसे मनुष्योंमेंही आत्मविश्वास और दृढनिश्चय होता है। व्यक्तित्वका विकासही आध्यात्मिक उन्नति है। व्यक्तिका विकास अपनी शक्तियोंके विकासकाही नाम है। जिसने अपनी आत्मशक्ति विकसित की है, उसीका व्यक्तित्व महान् है, वहही समाजसेवा अथवा समाज सुधारका काम कर सकता है, उसीका जीवन प्रभावशाली होता है।

समाजमें व्यक्तिका व्यवहारही उसके शील, आचार तथा सुसंस्कृत होनेकी परख है। परिवारमें, तथा युवावस्थाके साथियोंमें जो संस्कार पडते हैं वे सदा अपना प्रभुत्व जमाए रखते हैं। जिन परिवारोंमें परस्पर विश्वास है, आपसमें आदर और प्रेम है, सत्यका व्यवहार है, वह घर शान्तिका मन्दिर है, वहां बाहरके संदेह, भेद आदि नहीं घुस सकते, वही स्वर्ग है वहांही प्रसन्नता रहती है और संतोष, सुख, समृद्धि तथा दीर्घआयु होती है। इसके अतिरिक्त जहां परस्पर संदेह हो, वैमनस्य हो, आपसमें छलकपट हो, सत्यका व्यवहार न हो, परस्परका अपयशही आपसकी बातचीतका विषय हो, वहां कभी शील, सदाचार, वैभव, सुख, सम्पत्ति, शोभा आदि नहीं रहतीं; वहां जीवनका ह्रास होता है; वहां मिलकर काम करनेकी आदत नहीं बन सकती और जीवन कष्टमय होता है। ऐसे परिवारोंके लोग समाज-सेवाका कार्य करनेमें समर्थ नहीं होंगे। इनके सुधारनेके लिए अनुभवी, शीलवान्, सदाचारी, दृढप्रतिज्ञ, सच्ची लगनवाले पुरुषोंको चाहिये कि छोटी आयुमेंही वहांके बालकोंपर अच्छे संस्कार डालें जिससे उनका सुधार हो सके। समाजमें काम करनेवाले व्यक्तियोंको बहुत देखभाल कर समाजके कार्मोंके लिए लिया जाना चाहिये।

किसी भी व्यक्तिमें यदि उसकी वास्तविक स्थितिकी ओर उसकी दृष्टि फेर दीजाय तो उसे अपने सुधारकी चिंता होगी, वरना ऐसे दूषित वातावरणमें पले हुए युवक युवतियाँ उन्नतिकी ओर ध्यानही नहीं देते और समाजके लिए भाररूप रहते हैं। दरिद्रता और अपवित्रताका साथ देखा गया है। दरिद्री ईर्षालू भी होता है और ईर्ष्यासे उसकी उन्नतिमें अधिक बाधा पडती है, क्योंकि कोई भी उन्नतिशील मनुष्य ईर्षालू व्यक्तिमें रुचि नहीं रखता। ऐसे युवक और युवतियाँ तुच्छ और क्षुद्र होते हैं, इसलिये कोई उनकी ओर ध्यान नहीं देता। और ये लक्ष युवक और युवतियाँ पापपंकमें ऐसे धसते जाते हैं, मानो नीचे गिरना इनका स्वभावही हो। ऐसे व्यक्तियोंकी ओर समाज-सुधारकोंकी दृष्टि जानी चाहिये, किंतु यह काम तभी सफल हो सकेगा जबकि कार्यकर्ताका व्यक्तित्व सर्वथा संदेहसे ऊपर हो, और उसमें निरंतर अपने दोष दूर करनेकी सच्ची लगन हो। समाज सुधारकको पहले अपने सुधारकी ओर ध्यान देना चाहिये। आत्म-निरीक्षणके बिना अपने दोष नहीं दीखते और सुधारक आत्मवंचनामें मिथ्याचारी सा समाजमें रहता हुआ कभी कृतकार्य नहीं हो सकता। समाज-सुधारकका जीवन निरंतर निजी देखभालका जीवन हो तभी वह सेवाके कार्यमें सफल होता है।

समाजसेवासे मनुष्यका अपना चरित्र भी उन्नत होता है, वह शुद्ध होता है, उसे अपनी न्यूनताका पता लगता है, और वह यत्नशील हो, तो निरंतर पवित्र हो सकता है। समाज-सेवाके कार्यमें पडकरही मनुष्यको अपनी त्रुटियोंका पता चलता है।

नैतिक जीवनचर्या नितांत आवश्यक है। जिसका नैतिक व्यवहार है, जो सदा निश्चयसे अपने आपपर विश्वास कर सकता है, वहही समाजसेवामें कृतकार्य हो सकेगा। ऐसे ऐसे अवसर समाजसेवामें आते हैं जबकि तेजस्वी पुरुष भी परीक्षामें पडे हुए

अपना ध्येय भूल जाते हैं और ऐसे कार्य कर बैठते हैं जिनसे सेवाके पवित्र आदर्शको बट्टा लगता है। **अपना सुधार समाज-सेवामें मुख्य है।** सेवामें मनुष्य दिनोंदिन उज्ज्वल और पवित्र होता रहता है यदि वह सदा चैतन्य और सावधान रहे। **मनुष्य लक्ष्यको सामने रखे और अंतःकरणको शुद्ध रखे तो सेवाका कार्य परम श्रेयका कार्य है।**

जीवन-संग्राम

आसुरी और दैवी भावोंका निरंतर संघर्ष मेरी हृदयभूमिमें हो रहा है। एक ओर स्वार्थ, ईर्ष्या, द्वेष, घृणा, भय, काम, क्रोध, अभिमान, मोह, मत्सर, दंभ, कपट आदि विकारोंकी सेना खडी है और उनके सामनेही परोपकार, करुणा, प्रेम, निर्भयता, वैराग्य, निष्कामता, सरलता, ऋजुता, समता, नम्रता, विनय, चैतन्यता, सावधानता, सत्य और दृढसंकल्प आदि दिव्य गुणोंकी सेना खडी है। एकका सेनापति स्वार्थ है दूसरे पक्षका परोपकार। जो पक्ष जीत जाता है वह हृदय-भूमिपर अधिकार जमा लेता है। स्वार्थके प्रबल होतेहीं संदेह, संशय, लोभ आदि मित्रगणोंसे उसकी संधि हो जाती है। कभी परोपकारकी विजय होती है तो त्याग, यज्ञ, सहानुभूति, सहभोज आदि मित्रगणोंसे उसकी संधि होती है। हृदयभूमिकी शुद्धि होती है, उसे पवित्र किया जाता है, वहां यज्ञभावना स्थिर की जाती है और यज्ञ आरंभ होता है। देवोंकी विजय स्थायी हुई तो असुर लोग दिखाईही नहीं देते। यदि देवविजयमें स्वावलंबन, विश्वास और निश्चयरूपी मंत्रिमंडल न स्थापित हो पाया, तो असुरगण पुनः संदेह, संशय आदिद्वारा यज्ञभंग करनेका यत्न करते हैं, और यदि सावधानता, पराक्रम, स्थिरता और दृढतासे यज्ञकी रक्षा न की गयी तो यज्ञके विध्वंस होनेकी आशंका हो जाती है। ऐसी अवस्थामें यदि देवगण परमदेवका सहारा लेते हैं तो उनकी शक्ति क्षीण नहीं होती। **शक्तिके आदि-स्रोतसे संबंध होनेसे उनकी शक्तिमें नवजीवन संचारित होता रहता है।** यज्ञ ठीक चलता है और असुरगण चिरकालतक पराजित रहते हैं, जबतक कि देवोंमें पुनः विलासिता, राग, आलस्य और प्रमाद नहीं आते। आलस्य और प्रमाद, आराम तथा विरामके रूपमें अपने होकर आते हैं और शत्रुको सारी सूचना देकर उसे सचेत और देवोंको तन्द्रामग्न कर देते हैं। देवगण जानते हुए भी तन्द्रा तथा निद्राके वश यज्ञसे विमुख हो जाते हैं और असुरगण यज्ञको विध्वंस करनेमें तत्पर हो जाते हैं। किंतु यज्ञ सर्व हित कर, सर्वश्रेष्ठ कर्म होनेके कारण भगवान्‌को प्रिय होता है, वह करुणालय प्रभु देवोंकी निद्रा भंग करके उन्हें सावधान करता है और स्वयं अपने आयुधोंसे यज्ञकी रक्षा करता है। चैतन्य होकर देवगण पुनः अधिकतर सचेत होकर, पूर्ण स्फूर्ति, तेज और ओजसे सारी दिव्यशक्तियोंको एकत्र करके सत्यके नेतृत्वमें सफल होते हैं।

परोपकारकी भावना कभी कभी मनुष्यके अन्दर अहंकारके कारण अभिमानका उदय करती है और उसमें फिर मोह, मत्सर आदिकी सहायतासे स्वार्थका साम्राज्य हो जाता है। मनुष्य परोपकारके विचार छोडकर सत्यनिष्ठासे यज्ञ करे, अपना कर्तव्य पालन करता रहे तो प्रेम, उदारता आदि पुनः सजीव हो जाते हैं और यज्ञ पूर्ण होता है।

यज्ञ आरंभ करनेसे पूर्णतातक सावधानतासे यज्ञकी रक्षा करनी होती है और देवोंकी परस्पर सहायताकी भावनाको स्थिर करना होता है। असुरोंमें स्वार्थके कारण आपसमें फूट हो जाती है किंतु देवोंमें सत्यद्वारा परस्पर सन्मान बढता है और उनका स्वराज्य दृढ होता है। देवोंके सुराज्यमेंही तृप्ति है, आत्मप्रसाद है, परम आनंद और पूर्णता है।

शरीरकी उपेक्षा क्यों?

आपके पास मनकी चाहे जितनी शक्ति हो, बुद्धि चाहे जैसी तीव्र हो, ये दोनों शक्तियां आपको पर्याप्त सहायता नहीं पहुंचा सकतीं जबतक आपका शरीर नीरोग नहीं। हजारों लोग प्रौढ अवस्थामें गिर जाते हैं, निकम्मे हो जाते हैं, चूंकि उन्होंने युवावस्थामें अपने स्वास्थ्यकी ओर उचित ध्यान नहीं दिया। जो पुरुष सत्तर वर्षकी आयुमें स्वस्थ और उत्साहयुक्त तथा शक्तिमान् है, जिसके मुखमंडलपर तेज है उसकी अवश्य युवावस्था मर्यादासे बीती है। वृद्ध ठीक अर्थोंमें विकसित शक्तियोंवाला मनुष्य होना चाहिये। वृद्धका अर्थही है बढा हुआ, उन्नत हुआ हुआ। वृद्धावस्थासे पूर्वही

क्षीण हुआ हुआ मनुष्य यह प्रकट करता है कि वह युवा तथा प्रौढ अवस्थामें अच्छे प्रकार आचरण नहीं करता रहा।

जिसकी जीवन-चर्या शुद्ध है, जिसके जीवन-विकासमें साम्य है, जिसकी सभी शक्तियाँ, मन, बुद्धि तथा शरीर ठीक ठीक बढ रहे हैं वही योग्य मनुष्य है। यदि मनबुद्धिने उन्नति की और शरीरने उनका साथ न दिया तो मनबुद्धिके विकाससे क्या लाभ? शरीर मनुष्यके लिए धर्माचरणका परम साधन है। जबतक शरीर स्वस्थ है तभीतक जीवनका सुख है। सुखी मनुष्यही शान्त रह सकता है। जो रोगी है, निर्बल है, वह तो सदा सन्तप्त रहता है। यद्यपि रोग प्रायः मनुष्यके अपने अज्ञानके कारण अथवा कुसंगतिके कारण व्यसन तथा व्यभिचारकाही परिणाम होते हैं, पर जब मनुष्य रोगी हो जाता है तब वह शक्तिहीन हो जाता है और यदि रोग चिरकालतक रहनेवाला हो, तो मनुष्य निराश हो जाता है, जीवनमें संशय मानने लगता है, और अच्छा होनेपर भी रोगके भयसे दबा हुआ निकम्मासा हो जाता है, उसका उत्साह मन्द पड जाता है उसके जीवनमें उल्हास नहीं रहता। उदार भाव दब जाते हैं, व्यय अधिक होता है, आय उतनीही रहती है या कम हो जाती है, व्यवसायमें हानि होती है। हर प्रकारसे वैभव-हीन हो जाता है और उसे दुःख और कष्टकी वेदना सहनी पडती है। स्वस्थ शरीर मनुष्यकी सबसे अधिक मूल्यवान् संपत्ति है।

जिसे भोजन न पचता हो अथवा जिसे नींद न आती हो, उस धनाढ्य मनुष्यसे पूछिये कि वह अपने धनको क्या समझता है? उसे सदा यह चिन्ता बनी रहती है कि उसका धन वैभव वह स्वयं भोग नहीं रहा। डाक्टर, वैद्य, हकीम आदिही उसकी संपत्तिको भोग रहे हैं और अपनी रोगी अवस्थामें शापितसा जीवन व्यतीत कर रहा है। बीमारी अधिकतर व्यसनों तथा व्यभिचारका परिणाम हुआ करती है। युवावस्थाकी भूलें अथवा कुचालें, प्रौढ अवस्था और वृद्ध अवस्थामें अपना फल देती हैं, जब मनुष्य और लोगोंको सुंदर स्वस्थ तथा अपने आपको दुर्बल और चिन्तित पाता है। मनुष्यका अधिकार है कि वह आयुभर सदा प्रसन्न रहकर जीवनका सुख भोगे, धन कमाए तथा दान करे, उसका सदुपयोग करे, लोकसेवाके कार्य करे, आप उन्नत हो तथा दूसरोंकी उन्नतिमें सहायक हो।

स्वस्थ शरीरकी उपयोगिता रोगकी अवस्थामें प्रतीत होती है, जब मनुष्य दुःखी होता है पर कुछ बन नहीं सकता। हमने एक असाध्य रोग (यक्ष्मा) में फंसे एक युवककी सेवा की है और उसकी मनोवृत्तिको ध्यानसे देखा है। रोगी जीना चाहता था; किंतु बढता हुआ रोग उसे मृत्युकी ओर वेगसे घसीट रहा था। अन्ततः रोगकी जीत हुई, और इच्छा न होनेपर भी होनहार युवकको शरीर छोडना पडा और अपने माता-पिता, भाई-बहिन, तथा परिवारको सदाके लिये केवल अपने जीवनकी स्मृति मात्र दे गया। युवक होनहार था किंतु अपने शरीरके विकासके रुक जानेकी ओर ध्यान न देनेसे यक्ष्मा जैसे असाध्य रोगका शिकार हुआ।

यह मूर्खता है, कि प्रत्येक मनुष्य अपनी आयु पहलेसेही जन्मतेही निश्चित करके संसारमें आता है। योग्य आहार-विहार, कर्मचेष्टा तथा सोने-जागनेकी मर्यादासे उचित व्यायाम, शुद्ध विचार, सत्संग तथा स्वाध्यायसे, संक्षेपतः नियमित सुमर्यादित जीवनसे आयु बढती है, शरीर स्वस्थ रहता है और चित्त प्रसन्न रहता है। इसके विपरीत कुसंगमें पडकर व्यसन और व्यभिचारसे शरीर दुर्बल होता है, वीर्य क्षीण होता है और संजीवनशक्तिका निरंतर ह्रास होता रहता है और परिणामतः आयु घटती है। यह अटल सत्य है कि सत्संग और सदाचारसे निरंतर प्रसन्न रहते हुए जीवनका विकास होता है। तथा कुसंग और दुराचारमें सदा खिन्न मन रहनेसे जीवनका क्षय होता है।

शुद्ध वीर्यपर जीवन निर्भर है। शुद्ध भोजन, व्यायाम, प्राणायाम, शिवसंकल्प, दृढ प्रतिज्ञा आदि जीवन-क्रमसे जीवन सुखमय होता है और मनुष्य नित्य स्वस्थ रहता है। अच्छा स्वास्थ्य एक करण्ट अकौंट (बैंकमें चलता खाता) है, चाहे इससे व्यर्थ खो दो और बरबाद कर दो, चाहो तो इसे धीरे धीरे बढा लो और अच्छा

कर लो। यदि लगातार चेक बैंकपर दिये जायेंगे तो एक दिन आपके चेकपर 'रिफर टु ड्राअर' (लिखनेवालेसे पूछो) स्लिप लगकर अवश्य आएगी। बिनजमाके तो बैंक चेक नहीं स्वीकारेगी। रुपया चेकोंका बैंकसे तभीतक मिलता रहेगा जबतक बैंकमें आपकी जमा रहेगी। स्वास्थ्यकी भी यही अवस्था है। यदि युवाकालमें अथवा स्वस्थ अवस्थामें व्यर्थ शक्ति खोते रहो तो एक दिन शारीरिक शक्तिका दिवाला होगा। प्रायः रोगी होनेका कारण व्यर्थ व्यसनोंमें शारीरिक शक्तिका अपव्यय तथा असावधानताही होते हैं। यह नितांत मूर्खता है, कि आप जो चाहें और जितना चाहें खाते रहें। आहार क्या हो और कितना हो, यह आवश्यक प्रश्न है! आहार प्रकृतिके अनुकूल तथा आवश्यकता अनुसारही होना चाहिये। भूखसे अधिक खानेसे अथवा प्रकृतिके प्रतिकूल खानेसे असाध्य रोग हो जाते हैं और शरीर सदाके लिए निकम्मा हो जाता है। यह भी मूर्खता है कि आप रात गईतक जागें, थियेटर, सिनिमा, नाच आदि देखें, अपने शरीरके सूक्ष्म अवयवोंको आराम न दें और अंतमें उसका दुःखद परिणाम न भुगतें। प्रकृति अपना बिल पेश करनेमें चाहे देर कर दे किंतु जब वह बिल पेश करे तब चुकानाही पड़ता है। कई उदाहरण ऐसे हैं जिनमें वह बिल संपत्ति तथा शरीर दोनोंकोही ले गया है। प्रकृति अपना बिल कड़े सूदसहित लेती है, यह तथ्य सबको हृदयंगम करना चाहिये। डाक्तर लोग तो कहा जाय तो प्रकृतिके नियमभंग करनेके जुरमानेके कलेक्टर हैं। दंड विधान अटल है, उसमें त्रुटि नहीं। दुसाध्य रोगोंमें फंसनेपर जीवनकी स्मृतियां मनुष्यको दुःखित करती हैं पर प्रायश्चित्त-का समय बीत चुकनेपर शरीरकी आहुति देनीही पड़ती है।

'मानवी सामर्थ्य अधिकार स्वस्थ शरीरपर निर्भर है।' हमें शरीरकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। अपने समाज-सुधारके प्रोग्राममें जातिके लोगोंके स्वास्थ्यका सर्व प्रथम स्थान होना चाहिये। शरीरकी अवहेलना किये जानेपर शरीर सड़ता जाता है और हारकर प्रकृति देवीसे पुकार करता है और वह अदिति, अखंड शक्ति अपना कड़ा बिल पेश करके धन, संपद् तथा बहुधा शरीरतकको ऐसे मनुष्यसे छुड़ा लेती है। हमें शरीरकी अवहेलना नहीं करनी चाहिये। शरीरमें सजीव घटक होते हैं। यदि सदाचारसे उनके जीवनका आहार उन्हें हम नित्य देते रहें तो शरीररूपी राज्यमें न तो कभी अराजकता ही होगी और न कभी शत्रु की जय होगी। हमारा शारीरिक साम्राज सुव्यवस्थित रूपसे चलता चलेगी। हम अपने आपमें स्थिर होंगे, यही स्वस्थ अवस्था है। हमारे शरीरके सैनिक (अवयव, घटक समूह आदि) नित्य अपना रोचक भोजन पाते रहनेसे पुष्ट रहते हैं और शत्रुका आक्रमण रोकनेमें समर्थ होते हैं, और सदा मंगल और शुभ भावनाओंसे प्रेरित हुए हुए सामर्थ्यको बढ़ाते हुए राज्यके सुमंगलमेंही तत्पर रहते हैं, कभी विप्लव नहीं करते और किसी प्रकार शरीररूपी राज्यमें उपद्रव नहीं होने पाता और शासन प्रबंध सुगमतासे चलता रहता है और राजाको मंत्रियोंसहित कहीं अन्य स्थानमें बचावके लिए भागना नहीं पड़ता।

मर्यादाका जीवन, जिसमें मन बुद्धिका विकास शरीरकी बलि देकर नहीं किया जाता, सदा शरीर, मन, बुद्धि तथा आत्मा सभीके लिए हितकर होता है। आवश्यकता है, कि सभ्य समाज साम्य-विकासका महत्व समझे और शिक्षा तथा जीवनचर्या ऐसी बनाए जिसमें शरीरमें किसी एक अवयवकी वृद्धि दूसरे अवयवकी हानि अथवा रुकावट करके न हो। मनुष्यको सर्वांगविकास करना चाहिये। शरीर पुष्ट हो, मन सचेत हो, बुद्धि तीव्र हो, आत्मा जाग्रत हो, तभी अभ्युदय तथा निःश्रेयसकी प्राप्ति संभव है। ऐसी सर्वांग उन्नतिकोही समत्व अथवा योग कहते हैं। प्रत्येक अंग एक दूसरेका सहायक अंग हो तो शरीर सुडौल, सुन्दर, सुगठित दिखाई देगा और मनुष्य का आगे बढ़नेको जी चाहेगा। जहां साम्य है वहां ही शान्ति है, सुख है और महत्वाकांक्षाकी पूर्ति है। विषमतामें सदा दुख और क्लेशही देखे गए हैं। विषमता न आने दी जाय तो सर्वश्रेष्ठ स्थिति है, पर यदि किसी विशेष कारणसे विषमता प्रतीत हो तो सावधानीसे समता पुनः लाकर स्थिति ठीक करनेका उद्योग करना चाहिये। आरोग्यता, बिना समताके संभव नहीं। शरीरके घटक उत्तेजना अथवा निराशा दोनोंसेही प्रभावित

*

होते हैं। भोजन तथा जीवनचर्या ऐसी निश्चित करनी चाहिये कि मनुष्य न तो उदास हो और न ही आवेशमें आकर अनधिकार चेष्टासे शक्तिसे बढकर कार्यभार लेकर लज्जित हो। हमें अपनी वस्तुस्थिति सदा जाननी चाहिये। आत्मवंचना पाप है। जो अपने आपको ठीक ठीक नहीं जानता वह किसी अन्यको भी नहीं जान सकता और ऐसा मनुष्य सफल नहीं हो सकता। विना आत्मज्ञानके मनुष्य अपनी जीवन चर्या ठीक नहीं बना सकता। जैसा हम आचरण करेंगे वैसे हम होंगे, केवल विचारोंसेही उन्नति संभव नहीं। ज्ञान और कर्म दोनों आवश्यक हैं। शुद्धाचरणसे अवश्य शरीर निरोग होगा। निरोग स्वस्थ शरीर तथा मनही धर्म, अर्थ, काम और मोक्षके साधन हैं। स्वस्थ मनुष्यही समर्थ है, वही योग्य है।

उन्नत समाज

समाजमें योग्य मनुष्योंकी बहुतात हो, इस ओर बहुत कम ध्यान दिया जा रहा है। केवल मौखिक उपदेशोंसे काम नहीं चलेगा। हमें संघ बनाने होंगे जहां प्रत्येक व्यक्ति उच्च आदर्श सामने रखता हुआ स्वयं उन्नत हो और साथियोंकी उन्नतिमें रुचि रखे। संघभावकी कमी दीख रही है। यह ठीक है कि समाज-सुधार व्यक्ति सुधारपर अवलंबित है पर हमें तो सार्वजनिक जीवनको सर्वांग-उन्नत देखना है। जिस समाजमें उत्साही युवक आत्मोत्सर्ग करनेके लिये अपने जीवन को पवित्र तथा शक्तिमान् रखनेमें परस्पर स्पर्धा करते हों, वह समाज अवश्य निकट भविष्यमें उन्नत-समाज होगा।

हमारा सामूहिक सामर्थ्य बढे, हममें संघशक्ति हो, हम मिलकर महत्त्वके कार्य संपादन करनेमें रुचि रखें। हम केवल आरंभशूर न होकर जिस रुचिसे कार्य आरंभ करें उसी रुचिसे समाप्तिक पूरी लगनसे उसमें लगे रहें, तो हम अवश्य सफल होंगे। ऐसे दृढ निश्चयवाले पुरुष न केवल स्वतंत्र होंगे परंच स्वतंत्रताको स्थिर तथा दृढ भी रख सकेंगे। हममें परस्पर विश्वास हो, परस्पर प्रेम हो, सख्य हो, दृढता और स्थिरता हो तो, कोई भी बाधा ऐसी न होगी जिसपर हम विजयी न होंगे। हमारा जीवन प्रभावशाली होगा और संघशक्तिके विकाससे सारी जातिका यश, मान और आदर होगा।

हमारी स्वतंत्रता चिरस्थायी हो, हम स्वतंत्र देशके नागरिक हों, हमारे देशका संसारमें गौरव हो, हमारी संसारमें प्रतिष्ठा हो, यह महत्त्वाकांक्षा प्रत्येकके अन्दर होनी चाहिये; और अपनी जैसी सम्मीलित भावना हो उसीके अनुकूल आचरण हो तो चिरस्थायी उन्नति होती है। हम कभी दीन न हों, हम तेजस्वी हों, वर्चस्वी हों, यशस्वी हों, तो हम सबका सम्मीलित सहओज अजेय होगा। हम विजयी होंगे, हमारे देशवासियोंका सब जगह आदर होगा। ऐसे देशमें अकाल नहीं होगा। सदा बहुतात होगी। संपद, मंगल, वैभव सबके लिए होंगे। निर्धनता दूर होगी। सभी जन धनधान्यसंपन्न होंगे।

मिलकर काम करनेके जितने अवसर मिलेंगे वे सबको पूरी लगनसे कर्तव्य करके सुफल करने चाहिये। उन्नत व्यक्ति जब मिलकर कार्य करनेमें तत्पर होंगे तो अवश्य सफलता प्राप्त होगी। कोई ऐसा व्यक्ति नहीं है जो सर्वथा निर्दोष हो, इसलिए दूसरोंकी त्रुटियोको प्रकट करनेके स्थान, परस्पर सुसंगतिमें किस प्रकार सब मिलकर कार्य कर सकें ऐसी योजनाएं बनानी चाहिये। इस प्रकार समाज-सुधार सुगमतासे हो सकेगा।

समस्या

(ले० श्री० पं० गोपाल नीलकण्ठ दाण्डेकर, औंध)

एक दिन मैं अपने छोटे भाईको 'क ख ग घ' पढाते बैठा था, कि मेरे मित्र गुरुदयाल हाथमें एक वृत्तपत्र लिये हुवे मेरे घर आगये। और मुझे कहने लगे, 'कहो जी! कितनी बार पुकारें तुम्हें? इच्छा हो तो डाक्टरके पास के चलूं कानोंकी परीक्षा करवानेके लिये।'

मैंने उनका स्वागत करते हुवे कहा, 'पधारो गुरुदयाल-जी, मुझे सुनाई नहीं दिया आपका पुकारना।'

'अच्छा। ये 'क ख ग घ' क्या शुरू किया है? अब फिरसे पढना प्रारम्भ करोगे? मेरी ट्यूशन लगवा लो। अभ्यास न करनेपर खूब पीटते जाऊंगा।'

'क्यों नहीं लगवाऊंगा? नामही तो तुम्हारा 'गुरु' है। अच्छा, कहो क्या हुक्म है?'

'क्या तुमने अलीगढका बलवा पढा?' हाथमेंका वृत्तपत्र मेरी ओर बढाते हुवे वे बोले।

'हाँ। पढा।' कुछ उदास होकर मैंने जवाब दिया।

'लिखा है कि ५०-६० लाख रुपियोंकी नुकसानी हुई। कल्याणगंज नामका मुहल्ला सबका सब जलाया गया।'

'हाँ। मालूम है।'

'और लिखा है कि बलवा करनेवाले सबके सब मुसलमान विद्यार्थी थे। और इनका प्रतिकार करनेका किसीको साहस न हुवा।'

'हाँ। ठीक है' मैं भाईने लिखा हुवा 'क' दुरुस्त करते हुवा बोला।

एकदम गुरुदयालजी उठकर खडे होगये। मुझे पकडकर उन्होंने खूब हिलाया। और कहने लगे, 'तबसे सुन रहा हूं, 'हाँ पढा, हाँ मालूम है, हाँ ठीक है!' क्या तुम्हारे हिसाबसे यह जो अपरिमित हानि हुई उसका मूल्य इतनाही है!'

उदासीनता पूर्वक मैंने पूछा, 'तो बताओ क्या करूं?'

'कुछ नहीं करोगे? क्या तुम्हारे पास इसके लिये कोई उपाय नहीं?'

'हैं क्यों नहीं? उपाय तो हैं।। एकही क्यों? दो हैं। एक उपाय तो होही रहा है। दूसरा उपाय अधिक कठिन है।'

'कौन उपाय हो रहा है?'

'यही कि हिन्दू पीटे जा रहे हैं। उनकी अपरिमित हानि की जा रही है। उनके घर जलाये जाते हैं। उनका सर्वस्व छीन लिया जाता है।'

'अरे वा! क्या यह कोई उपाय है?'

'हाँ। है। जानते हो? कुम्भकर्ण जब सो रहा था, तब उसे उठानेके लिये कई कलश पानीके उसके कानमें डुलाये गये। कितने राक्षसोंने मिलकर उसे पीटा। उसके शरीरको नोचा, काटा, अनन्त प्रकार किये, तब कहीं वह जागृत हो गया। बस ठीक वैसेही यह हिन्दुसमाजरूपी महापुरुष सो रहा है। यह नींद कई वर्षोंकी है। उसे अपनी रक्षा करनेका भान नहीं है। और उसे उठानेके लिये ये सब आसुरी उपाय हो रहे हैं। यह सिंह सोता पडा है। कुछ दिनोंके बाद यह जाग उठेगा। और फिर इसके नाकमेंके बाल खींचनेका कोई प्रयत्न भी न करेगा। कुछ दिनोंतक तो यह हानि उठानीही पडेगी। खुली आँखोंसे देखते हुवे यह सब सह लेना होगा।'

'और दूसरा वह कठिन उपाय?'

'वह है संघटित हो जाना। परन्तु वह सुगम नहीं है।'

'क्यों?'

'पहली बात हम हिन्दुओंके कुछ दोष, जो कि हमारी धर्मव्यवस्थाके सद्‌गुणोंके अतिरेकसे पैदा हुवे हैं। कोई भी चीज मर्यादित हो तबतकही अच्छी लगती है। अति हो

जानेपर गोदुग्ध भी हानिकारक होता है।'

'क्या बता सकोगे कुछ दोषोंके नाम ?'

'हाँ। क्यों नहीं ! नीचे बैठ जाओ। जरा देर होगी। कुछ काम तो नहीं ना ?'

'नहीं। काम कुछ नहीं है। केवल भोजन करना है। सोभी अगर तुम्हारा आग्रह हो, तो यहीं कर लूं।' ऐसा कहते हुवे गुरुदयालजी नीचे बैठ गये। और उन्होंने कहा, 'हाँ ! कहो !'

'हमारे यहाँ समाजकी सुस्थितिके लिये वर्णव्यवस्था की गई, यह तो जानतेही हो। अब बढते बढते वह व्यवस्थाका भेद इतना बढ गया है कि ब्राह्मणोंमें सतारह सौ भेद निर्माण हुवे। कनौजे, शरयूपारी, शेंगडे, नार्मदीय, गौड, विदुर, कोंकणस्थ, देशस्थ, करहाडे; असंख्य नाम हैं। इन भेदोंमें आपसमें बेटीव्यवहार तो होताही नहीं, परन्तु कुछमें तो रोटीव्यवहार भी नहीं होने पाता। बस ठीक यही हाल क्षत्रियोंका, वैश्योंका और शूद्रोंका। बढाईयोंकी छूई हुई रोटी चमार नहीं खाते, चमारोंकी रोटी भेडोंको नहीं चलती।

और उधर मुसलमानोंमें देख लीजिये। एकही थालीमें नवाबसे लेकर फकीरतक सब लोक खानेको बैठेंगे। उसमें पिंजारा भी होगा। बागवान भी होगा। सैद, हाजी, मुल्ला, मौलवी, खान, मीया, सब एकही थालीमें दो दो निवाले लेंगे।'

'तो क्या यह बात अच्छी है ?'

'अच्छी नहीं है। मैं भी मानता हूं। लेकिन साथही साथ आप लोगोंमें ब्राह्मणके स्वयंपाकपर चमारकी दृष्टि आते बराबर उसका बिटल जाना भी प्रशंसनीय नहीं है। उन लोगोंकी यह भोजनपद्धति चाहे दोषयुक्त हो। फिरभी आपसकी एकता बढानेके लिये तो यह निःस्संशय साहाय्यकारी होती है। बस ऐसीही बात विवाहके संबंधमें भी। हमारे इधर जो उपजातियाँ नहीं हैं, उनके कारण किसी जातिमें लडकियाँ अधिक होतीं हैं, तो लडकोंकी कीमत बढ जाती है। तिसपर भी कई लडकियाँ व्याह नहीं होता इसलिये या तो कहीं किसी गुंडेके साथ भाग जाती हैं। नहीं तो किसी कुवे या नदीमें अपनी जीवन-लीला समाप्त करती हैं। और भी कुछ कुंडली, गोत्र, प्रवर, सपिंड आदि कई झगडे हैं।'

और मुसलमानोंमें केवल वह सौभाग्यकांक्षिणी लडकी है, इतनाही देखा जाता है। अच्छा लडका और अच्छी लडकी ये दोही बातें देखकर उनमें व्याह हो सकता है।'

'क्या आप इसका भी समर्थन कर रहे हैं ?'

'नहीं। तुम मेरा मतलब नहीं समझे। मेरा कहना इतनाही है कि कोई भी बात प्रमाणसे अधिक हो जानेसे बिगड जाती है। और भी कई बातें हैं। हमारी उपासना-पद्धति देख लो। शैव वैष्णवसे घृणा करेगा। वैष्णव शैवकी उपासनापर मुंह टेढा करेगा। द्वैती अद्वैतीको हंसेगा। अद्वैती द्वैतीकी मज़ाक करेगा। प्रार्थनासमाजिस्ट सनातनीकी निंदा करेगा। सनातनी प्रार्थनासमाजिस्टकी खिल्ली उडायगा। और उपासना करेंगे वेभी अकेले। कोई नदीपर जाकर संध्या करेगा, तो कोई मन्दिरमें जाकर दर्शन करेगा। कोई सुबहमें तो कोई शामको। समय एक नहीं। पद्धति एक नहीं। उपास्य एक नहीं।

उधर मुसलमानोंमें देख लो। मुल्लाने बांग पुकारनेपर सबके सब इकट्ठे हो जावेंगे। और नमाज पढ लेंगे। एक पद्धति, एक प्रार्थना, एक उपास्य दैवत, एक किताब, सब कुछ एकसा।

हमारे धर्ममें प्रथम तो शुद्धिकरण सर्वमान्य नहीं है। और किसीको शुद्ध कर लिया भी, तो वह सबके साथ भोजनादि व्यवहार नहीं कर सकता। कोई भी उसकी ओर अच्छी नजरसे नहीं देखेगा। बाहरकी कोई चीज पचन करनेकी शक्तिही हम लोगोंमें नहीं है। और वहाँ उधर देखो। सब कुछ हजम हो जाता है। चाहे ब्राह्मण हो चाहे क्षत्री। चाहे बढाई हो चाहे चमार। उनमें आगया कि उनका होगया। फिर वे उसको दूर नहीं रखेंगे।'

'अच्छा और कुछ ?'

'और भी है। हमारेमें कोई मर गया कि उसकी अन्त्य-क्रिया करनेमें जो तकलीफ होती है, उसे बिचारा जिसके घरमें मृत्यु हुई है, वही जाने। गांवमें होनेपर भी लोग आवेंगे नहीं। कोई कहेगा, कि मुझे भाता नहीं। कोई कहेगा, मेरा छोटा बच्चा है। कोई कहेगा, मेरा इसी साल

ब्याह हुआ है। मुझे ऐसे कितने उदाहरण मालूम हैं कि जब आखरी सुतकको गाडीमें ले जाकर दफनाना पडा है।

अब मुसलमानोंमें देख लो। कोई मर गया ऐसा सुनते बराबर सब लोग इकट्ठे हो जावेंगे। कोई कफन लानेके लिये दौडेगा तो कोई जनाजा उठा कर लावगा। कोई कबर खोदने जायगा। और सब लोग कंधा लगाकर उसे दफन कर आवेंगे।

हम लोग अपने उस छोटेसे जातिके बाहर देखही नहीं सकते। आदि-गौड-सेवा-मण्डल, नार्मदीय-उन्नति-सभा, कोंकणस्थ-हित-वर्धक-समिति, भावसार-युवक-मण्डल, क्षत्रिय-सेवा-समिति ये नाम क्या बताते हैं? और उधर देख लो। कहीं भी किसी मुसलमानके पैरमें कांटा भी गड गया तो सर्व जातिके आँखोंमें खून उतर आता है! यहीं कि नहीं तो ईरान, तुर्कस्तान, अरब तकके मुसलमानोंसे इन हिन्दुस्थानी मुसलमानोंके मनमें जो आत्मीयता है, वह क्या उपेक्षणीय है?'

'नहीं। सर्वथा उपेक्षणीय नहीं। हम भी उसकी कीमत करते हैं।' 'और एक बात याद आ गयी। इन लोगोंमें नास्तिक बहोत कम मिलेंगे तुम्हें। हमारे इधर कुछ पूछोही मत। कोई चार्वाक पंथीय है। कोई निसर्गवादी। कोई कम्यूनिस्ट। कोई इन्द्रियसुखवादी। कोई कहता है कि वह हिन्दुजातिमें जन्म पा चुका इस लिये दुख मनाता है!

अब बताओ कि, क्या सचमुच इन लोगोंका संगठित हो जाना कठिन बात नहीं है?'

'तो क्या अशक्य है?'

'नहीं। अशक्य नहीं है। फिर भी खूब प्रयत्न करने होंगे। और एक बात है। हम लोगोंको अपने स्वभावमें भी परिवर्तन करना पडेगा।'

'कैसा परिवर्तन?'

'यही कि हमारी व्यक्तिगत धर्मकल्पना चाहे जो हो, हमारे वैयक्तिक नियम कितने भी कठोर हों, फिर भी हमें उन कल्पनाओंको तथा नियमोंको घरमें बंद करना होगा।'

'इसका मतलब मैं नहीं समझने पाया।'

'मतलब यही कि जो कुछ कल्पनाएँ अथवा नियम हों, उन्हें पालन करनेका स्थान घर। बाहर समाजमें आनेके बाद उन कल्पनाओं अथवा नियमोंका पालन न किया जाय। समाजमें आनेपर सब लोग एकही भावसे पहचाने जायँ कि वे हिन्दु हैं।'

'क्यों जी? अगर हिन्दु और मुसलमानोंको एकत्रित लाकर, और उन्हें अच्छी तौरसे समझाकर उनका संगठन किया जाय तो?'

'यह बात तो तीन कारणोंसे अशक्य है। पहली बात, ये दोनों जातियाँ किसी मौकेपर भलेही एकत्रित हों, फिर भी स्थायी रूपेण इनमें समान सांस्कृतिक गुण न होनेकी वजहसे इनका संगठन न हो सकेगा। संगठन समान-धर्मी पदार्थोंमें होता है। तुम कहोगे कि वे भी मनुष्य हैं, हम भी मनुष्य हैं। बात मान ली। परन्तु केवल मनुष्य होना यही बात संगठनके लिये पर्याप्त नहीं है। परम्परासे जो सांस्कृतिक धर्म चलते आ रहे हैं, वे सर्वथा भिन्न हैं। किसीने भी यह बात अमान्य करनेसे वह असत्य नहीं होती। शहरोंके कुछ मुट्ठीभर लोग चाहे जैसा खानपानादि व्यवहार करते हुवे इन दो जातिओंका समानधर्मत्व भलेही सिद्ध कर दें, फिर भी जबतक भारतवर्षकी जनसंख्याका अधिकांश देहातोंमें बसता है, और उनमें यह सांस्कृतिक भेद मौजूद है, तबतक ये दो प्रवाह भिन्नही रहेंगे। इसका मतलब ये नहीं कि देहाती हिन्दु और मुसलमान आपसमें लडा झगडा करते हैं। परन्तु उनमें सांस्कृतिक भेद है, यह बात तो माननीही होगी।

दूसरी बात यह कि इन दोनों जातिओंको एकत्रित लाकर इनका संगठन करना युक्तिसंगत नहीं है। वे लोग खूब अच्छी तौरसे संगठित हैं। उन्हें एक जगह बुलाकर संगठनके पाठ पढाना इसका मतलब है उनका समय फजूलही खर्च करना। मान लो कि एक स्कूलके कुछ विद्यार्थी हैं। उनमेंसे कुछ तो बुद्धिमान हैं। उनका अभ्यास अच्छा है। परन्तु कुछ एकदम ढीले हैं। उनका अभ्यास बिलकुल खराब है। तब इन खराब अभ्यासवाले विद्यार्थीओंके लिये अगर एकाद स्पेशल क्लास खोला जाय,

तो उसमें उन बुद्धिमान विद्यार्थीयोंको जबरदस्तीसे ठूंसना उनपर अन्याय करना है ।

उन्हें इकट्ठे करके तुम क्या पढाओगे ? ' संगठित हो जाओ ?' वे कहेंगे कि 'हम संगठित ही हैं । हमारे एकाद बच्चेपर भी किसीने हाथ उठाया तो हम सबके सब दौडकर जाते हैं । हमें यह पाठ पढानेकी जरूरत नहीं ।'

इसलिये इन दोनोंका संगठन आज सर्वथा अशक्य है । प्रथम हमें हिन्दुओंकाही संगठन करना होगा । उन्हें खूब मजबूत बनाना होगा । इतना मजबूत कि किसीके भी संघर्षसे उनका कुछ न बिगडने पाय । और फिर अलेही तुम दोनों जातियोंका संगठन करो । आज तो एक सुसंगठित जातिके साथ एक असंगठित जातिको बांधनेका प्रयत्न करना, इसका अर्थ है उस असंगठित जातिका प्रत्येक बाजूसे नाश ! जैसा कि आजके राजकारणमें हो रहा है । अगर हिन्दु जाति सुसंगठित और सुदृढ होती, तो फिर पाकिस्तानकी कल्पना भी न निर्माण हो सकती, न समान प्रतिनिधित्वका सवाल खडा हो जाता । अच्छा । बहोत देर हुई । क्या यहीं भोजन करोगे ? '

' नहीं जी ! मैंने तो मजाक की थी । परन्तु आज खूब चर्चा हुई । अगर प्रतिदिन ऐसाही होते जाय तो ! '

' नहीं ! फिर तुम तरस खाओगे ! '

हंसते हुवे गुरुदयालजी उठकर चले गये ।

पाकिस्तानकी आर्थिक अशक्यता

[१] प्रास्ताविक

आज सारे देशभरमें हरेक जगह चर्चा चल रही है कि पाकिस्तानकी कल्पना किस प्रकार सर्वथा अव्यवहार्य है। साथही पाकिस्थान अशक्य कर छोडनेके लिये चारों ओर संगठन और मतप्रचारकीभी धूम जारी है। इस लेखमें संक्षिप्तमें आर्थिक दृष्टिकोनसेभी पाकिस्तानकी निर्मिति देशके लिये हानिप्रद कैसे होगी यह देखना है। 'आर्थिक दृष्टि' का मतलब है देशका स्वतन्त्र आर्थिक जीवन। इस आर्थिक जीवनमें देशकी निसर्गजनित सम्पत्ति, उद्योगधंधोंके दृष्टिसे उसका उपयोग, महसूलकी पद्धति, लष्करी खर्च, परराष्ट्रीय संबंध, आय-व्ययका समतोलन करनेकी जबाबदारी इत्यादिका अन्तर्भाव होता है।

[२] संसारकी संघराज्यकी ओर प्रवृत्ति

आर्थिक दृष्टिकोनसे पाकिस्तानकी अशक्यता सिद्ध करनेके पहले, अन्तःकरणमें यह विचार निर्माण होता है कि जब सारे संसारका पिछले कुछ वर्षोंका इतिहास संघशक्तिकी ओर उसकी प्रवृत्ति बता रहा है, तब भौगोलिक दृष्टिसे अखण्ड भारतकेही दो टुकडे किये जायँ तथा एक दूसरेका परस्परसे कुछभी संबंध न रहे, यह दुर्विचार आखरी निर्माणही क्यों हुवा ? रूसकी प्रगतिका एकमात्र कारण है उसकी संघशक्ति। जर्मनी और जापान इसी कारण पराजित हो सके कि बडे त्रिराष्ट्रोंने आपसमें मिलाप किया। बाल्टिक और बाल्कन राष्ट्रोंका प्रश्नभी संघशक्तिसेही हल होनेवाला है। गत महायुद्धके बाद यूरपमें जो छोटे राष्ट्र निर्माण हुवे, उनकी स्थिति इन झगडों तथा झंझटोंमें अनुकम्पनीय होगी, ऐसा गत पचीस बरसोंका अनुभव है। इसलिए उनकी प्रवृत्तिभी संघराष्ट्रोंकी ओरही है। चाहे प्रादेशिक देशाभिमानकी तथा राष्ट्रीयत्वकी कल्पना कितनीभी सुमधुर हो, गत पाव शतकका अनुभव कहता है कि जागतिक-जीवन-कलहका मुकाबला करनेके लिये यह कल्पना कदापि समर्थ नहीं हो सकती। दक्षिण अमरीकाके छोटे छोटे पिछडे हुवे राष्ट्रोंके व्यवहार भी संघशक्तिसेही चला करते हैं। इतनाही नहीं तो जागतिक व्यापारमें स्थिरता निर्माण करनेके लिये बडे बडे राष्ट्रोंने भी सहकार्य करके "आन्तरराष्ट्रीय-चलन-निधि-' स्थापित करना चाहिये, यह कल्पना गत वर्ष ब्रेटनवुडमें सम्मीलित होगई हुई परिषदने मान्य की। सारांश जब जागतिक राजकारण संघशक्तिकी ओर खींचा जा रहा है, तब भारतमें मात्र उसके दो टुकडे करनेकी कल्पना पल्लवित हो, यह सचमुच दुर्दैवी घटना है।

[३] कुछ सरकारी महसूल

अब हम इसका विवेचन करेंगे कि आर्थिक दृष्टिकोनसे पाकिस्तानकी कल्पना किस प्रकार अव्यवहार्य है। सर्वप्रथम सरकारके द्वारा लदे गये कुछ महसूलोंका विचार कर्तव्य है। कस्टम् डयूटीज् यह एक ऐसा महसूल है जिससे कि शान्तताकालमें सरकारके उत्पन्नका प्रतिशत चालीसवा हिस्सा निकल आता है। यह महसूल बंदरगाहोंमें आयात-निर्यात मालपर वसूल किया जाता है। अगर भारतके दो टुकडे किये जायँ तब इस महसूलके संबंधमें एकसूत्रता न रह सकेगी। उसका विभाजन लोकसंख्याके प्रमाणमें न होगा। और कस्टम् विभागका खर्च मितव्ययसे न हो सकेगा। इसका प्रधान कारण है अन्तर्गत आर्थिक व्यवहारकी दृष्टिसे भारत की अखण्डता, एकरसता। चाहे जिस बन्दरगाहमें किसी चीजका निर्यात तथा आयात हो, वह चीज भारतके किसीभी हिस्सेमें पैदा होती है, और कहीं परभी उसका बिक्रा होता है। ऐसी अवस्थामें कस्टम् डयूटीज्की दृष्टिसे पाकिस्तान एक ऐसी निकम्मी चीज

है जो कि सर्वथा अव्यवहार्य है, और जिसके लिये अधिक व्यय का भार उठाना होगा।

मध्यवर्ती सरकारके उत्पन्नका और एक साधन है उत्पादनका महसूल (excise Duty)। यह महसूल शक्कर, अंगार-डिब्बियाँ, दाल्दा, इत्यादिके उत्पादनपर लगाया जाता है। इस महसूलके विषयमेंभी भारत-भरमें एकसूत्रता होना आवश्यक है। अगर भविष्य-में बम्बई विभागमें कपडेके उत्पादनपर उत्पादन-महसूल लगाया गया, और पाकिस्तानमें न लगाया गया तो फिर कुछ समयके बाद बम्बईके कपडेके निर्मिति-पर उसका अवश्य अनिष्ट परिणाम होगा। यह बात प्राप्तिपरका महसूल तथा मध्यवर्ती सरकारके अन्यान्य महसूल इनके विषयमेंभी सार्थ है। एवं महसूलकी एक-सूत्रता और मितव्ययके दृष्टिसे पाकिस्तानकी कल्पना अयोग्य है।

[४] लष्करी खर्च

इसके बाद व्ययकी दृष्टिसे लष्करी खर्च महत्त्वका होता है। अगर भारतके दो टुकडे किये गये तब फिर यह खर्च प्रत्येक भागके लिये अवश्य भारभूत होगा। विशेषत: सीमाप्रान्तका अन्तर्भाव पाकिस्तानमें किया जाता है, इसलिये पाकिस्तानकोही इसकी तीव्रताका अधिक अनुभव होगा। शान्तताके समय भारतका लष्करी खर्च कुल मध्यवर्ती व्ययके ५९ फीसदी इतना होता है। पाकिस्तान निर्माण होनेके बाद यही खर्च कमसे कम सवागुना अधिक बढेगा। और तुलनात्मक दृष्टिसे पाकिस्तानकोही इस बढते हुवे खर्चका अधिक भार उठाना होगा।

मध्यवर्ती सरकारकी कक्षामेंके चलनव्यवहार, पोष्ट-तार-विभाग, तथा ब्रॉडकास्टिंग इनके कारोबारमेंभी भारतके दो टुकडे हो जानेसे असंख्य असुविधाएँ निर्माण होंगीं। प्रत्येक विभागके लिये उस उस खातेका अलग बजेट करना, और खर्च बाँट लेना मुष्किलका काम हो बैठेगा।

[५] मध्यवर्ती संस्था

भारतको अखण्ड मानकर काम करनेवालीं इम्पी-रियल कौन्सिल ऑफ ॲग्रिकल्चरल् रीसर्च्, बोर्ड ऑफ् साइन्टिफिक् ॲण्ड इण्डस्ट्रिअल डेव्हलपमेन्ट, इण्डियन सेन्ट्रल कॉटन कमिटी, ज्यूट कमिटी आदि अनेक सर-कारनिर्मित उपयुक्त संस्थाएँ मौजूद हैं। भारतको द्विखण्ड करनेपर इन संस्थाओंके काममें अधिक असुविधाएँ निर्माण होंगीं, खर्च बढेगा, और एकसूत्रता रखना मुष्किल हो जायगा।

[६] परराष्ट्रीय सम्बन्ध

कमसे कम परराष्ट्रीय सम्बन्धके दृष्टिसे तो भारतकी नीतिमें एकसूत्रता होना परमावश्यक ही है। अब अन्यान्य राष्ट्रोंमें भारतकी ओरसे व्यापारिक प्रतिनिधि नियुक्त करना प्रारम्भ हुवा है। पाकिस्तानके होनेपर प्रत्येक राष्ट्रमें ऐसे दो प्रतिनिधि रखने होंगे, जिससे खर्च अधिक बढेगा; फिरभी यह नहीं कहा जा सकता कि उनकी नीतिमें सुसूत्रता रहेगी। आन्तरराष्ट्रीय परि-षदोंमें भारतके प्रतिनिधिको एक स्थान मिला करता है। तथा भारत कुछ आन्तरराष्ट्रीय संस्थाओंका एक सदस्य है। इन सब स्थानोंमें पाकिस्तानके कारण एक नया झमेला निर्माण होगा। कार्य अधिक बढेगा, और उन आन्तर-राष्ट्रीय संस्थाओंमेंभी भारतकी नीतिमें एकसूत्रताका अभाव दिखाई देगा। तात्पर्य परराष्ट्रीय हितसम्बन्धकी दृष्टिसे पाकिस्तानकी कल्पना सर्वथा त्याज्य है।

(७) भारतीय जनताका आर्थिक जीवन

सबसे अधिक महत्त्वका प्रश्न है भारतीय जनताका आर्थिक जीवन, अथवा देशके चरितार्थकी समस्या। आज युद्धोत्तर पुनर्घटनाके समयपर जब कि स्टर्लिंग बॅलन्स अदा करना, परराष्ट्रीय पूंजीका अधिक प्रमाणमें प्रवेश, तथा बृटिश व्यापारके हितसम्बन्ध, इत्यादि महत्त्वके प्रश्नोंपर चर्चा की जा रही है, तब भारतकी आर्थिक तथा औद्योगिक नीति एकही होनी चाहिये। इस दृष्टिसे पाकिस्तान एक महान संकट है। युद्धोत्तर पुनर्घटनाकी दृष्टिसे भारतीय जनताकी क्रयशक्ति बढनी चाहिये। और इसके लिये देशके कृषिमें तथा औद्योगिक उत्पादनमें वृद्धि होनी चाहिये। विशेषत: औद्योगिक

उत्पादन बढानेके लिये यह आवश्यक है कि हम भारतीय संपत्तिके उत्पादनके मुख्य साधन, मजदूर, पूंजी, नियोजक शक्ति आदिका बन सके उतना अधिक लाभदायक उपयोग करा लें। जो प्रान्त पाकिस्तानमें गिने जाते हैं उनमें इन बातोंमेंसे कईकी कमी है। इस लिये अपना चरितार्थ अच्छी तौरसे चलानेके लिये तोभी पाकिस्तान का पुरस्कार करनेवालोंने उस कल्पनासे परावृत्त हो जाना चाहिये। क्योंकि पाकिस्तानका अर्थ हैं अपनेही पेटपर पाँव देना।

अन्तर्गत औद्योगिक जीवनके क्षेत्रमें अमरीका, बरतानिया, तथा उनके उपनिवेश इत्यादि सधन राष्ट्रोंसे हमें युद्ध करना है। भारतीय कारखानदार अपनी उत्पादन-क्षेत्रकी कार्यक्षमता तबही बढा सकते हैं, जब कि भारत अखण्ड रहेगा। सरकारने औद्योगिक संरक्षणके लिये टॅरिफ बोर्डकी घोषणा निर्वाचित की है। भारतको औद्योगिक संरक्षण देते समय उसकी नीतिमें एकसूत्रता रहनी चाहिये। इस दृष्टिसे भी पाकिस्तानकी योजना अधिक तापदायी है। व्यापारी हितसम्बन्धके विषयमें तो हमें बडी सावधानतासे कदम उठाने होंगे। अगर भारत द्विखण्ड हो गया तब तो उस घटनासे निर्माण होनेवाली कमजोर स्थितिका अनुचित लाभ बृटिश, अमरीकन, तथा अन्य पूंजीपति अवश्य उठावेंगे। इस संकटकी ओर देखकर तोभी पाकिस्तानका हट छोडना चाहिये। तात्पर्य पाकिस्तानकी निर्मितिसे हमारे आर्थिक जीवनमें अनेकानेक कठिनाइयाँ निर्माण होंगी, तथा पराई पूंजीपति हमारी इस स्थितिसे अपना भरपूर लाभ करा लेंगे। इसलिये हमारे चरितार्थके साधनके प्रश्नको विकटतम करानेवाली यह पाकिस्तान-योजना सर्वथा त्याज्य है।

समाज--गङ्गा

(ले०- गोपाल नीलकण्ठ दाण्डेकर, औन्ध)

" हो-हो-हो-हो-हो ! !

हंसीकी आवाजसे सारी दूकान गूंज उठी।

रामशरणकी दूकान एक नाममात्र दूकान थी। सच-मुच देखा जाय तो वह एक ऐसी जगह थी जहाँ कि गाँवमेंके कुछ व्यक्ति इकठे होकर प्रतिदिन गांवभरकी निन्दा करनेका कार्य सम्पन्न किया करते। न मालूम कैसे परन्तु वह एकही विषय उनके लिये पर्याप्त था। प्रतिदिन उसी विषयका चर्वण करनेपरभी उन्हें उसमें नवीन नवीन रस प्रतीत हुवा करता।

उस मण्डलीमें गाँवके प्रत्येक वर्गके प्रतिनिधि थे। जगन्नाथ पाण्डेयके सुपुत्र विश्वनाथ, स्वयं रामशरण, गाँव के एक कायस्थ साहुकार, श्रीवास्तवका लडका बिहारी और सबसे अच्छी खेती जिसके पास थी, उस भोळू अहीरका पुत्र लच्छू ये चार थे उस मण्डलीके प्रमुख सदस्य। और भी कई थे। सारेके सारे जवान। हट्टे कट्टे। उनमेंके एक कन्हैय्या कहारकी प्रसिद्धि तो ऐसी थी कि अगर वह चाहता तो अपने कहार साथियोंके साथ किसीका घरभी जला देता। उस बिचारे घरवाले-की उसको हूं कहनेकी हिम्मत न पडती।

प्रतिदिन शामको वे लोग वहां इकठे हुवा करते। और फिर जो जो भी रामशरण की दूकानपर कोई चीज खरीदने आ जाता, उसे अपनी भद्दी मजाकका कडवा घूंट निगलकर ही चुपचाप चले जाना पडता। किसीकी मजाल नहीं थी कि वह उस मजाकका जबाब दे। भंग और चडसकी नशामें मस्त होगये हुवे उन लोगोंके साथ टेढी बात करना एक मुष्किल थी।

उस दिन शामको जब इन सब लोगोंका मेला जुट गया, और बिस्वनाथ पण्डत कुडता निकालकर बादाम पीसनेमें लगे थे, एक लडका आकर उसने रामशरणसे कहा, " भैया, एक पैसेकी लौंग दो।"

" क्यौं चाहिये रे लौंग ? " पण्डत ने पूछा।

" आ गया होगा कोई। तुम्हें क्या करना है ? " बिहारीने जवाब दिया।

" क्या करना है ? ये लो ! गांबके मनुष्यको पूछेंभी नहीं ? " पण्डत हँसते हुवे बोले।

" हां हां ! जरूर पूछना चाहिये। कौन आगया है रे ? " रामशरणने पण्डतका समर्थन करते हुवे पूछा।

" उसकी बहनके व्याहकी बातचीत करनेके लिये आ गया होगा कोई। " लच्छू बीचमें बोल उठा।

" बहनका व्याह ! कैसे होगा बहनका व्याह ! " बिहारीने शंका प्रदर्शित की।

" क्यौं ! क्यौं नहीं होगा ? " लच्छूने पूछा।

" अरे मालूम नहीं उस दिनका किस्सा ? " इतना कहकर बिहारीने पण्डतकी ओर आंखसे संकेत किया।

" हो-हो-हो-हो-हो ! " सबके सब हँस पडे। हंसीकी आवाजसे सारी दूकान गूंज उठी।

लडका बिचारा उस हंसीके मारे शरमिंदा हुवा। उन लोगोंके वार्तालापमेंका कुछभी उसके ध्यानमें न आ सका। परन्तु उनकी हंसीही उसे शरमानेके लिये पर्याप्त थी। खुदको सम्हलते हुवे वह बोल उठा,

" नहीं नहीं। कोई नहीं आया है हमारे यहां। जीजीको बुखार आगया है। दवाईके लिये चाहिये लौंग। "

रामशरणकी जीभ इसपर कुछ पूछनेके लिये चलने-ही वाली थी, अचानक उन लोगोंने देखा कि सामनेकी राहसे एक धष्ट पुष्ट शुभ्रवेशधारी नवयुवक हाथमें सहज-लीलासे एक बक्स सम्हलते हुवे आ रहा है। उस छोटेसे गांवमें उन लोगोंके लिये यह एक नवीन घटना थी, इस लिये सब के सब उठकर सामने आगये।

" क्यौं भाई, भरतकी माँका घर कहां है, बताओगे ?

मैं आजही इस गांवमें आगया हूं।" उस नवयुवकने दूकानके सामने ठहरकर मधुर स्वरमें इन लोगोंसे पूछा।

उसकी उस विशाल देहको देखकर इन लोगोंको आजही एकदम उसकी मजाक करनेका साहस न हुवा। रामशरण बोला, "हां हां! क्यौं नहीं बतायेंगे! जरूर बतायेंगे। जाओगे भैय्या कन्हैय्या! उतना उस बुढिया-का घर तो इन्हें दिखाके आओ!"

कन्हैय्या उठकर आगे हुवा। उसके पीछे वह युवक चलने लगा।

"क्यौं रे पण्डत, धुरपती बुढियाके घर आ गया है?" बिहारीने पूछा।

"हां!" पण्डत बिस्वनाथ भंग पीसते हुवे बोला। "उसका भांजा है सायत। यहीं रहेगा अब। उसने अपने खेतीकी व्यवस्था देखने बुलवा लाया है।"

"बडे सुफेद कपडे पहनकर आगया है जी! अब देखेंगे क्या करता है।" बिहारी ने सुनाई।

"हां! देखेंगे नहीं तो! अवश्य देखेंगे।" पण्डत-ने सम्मति प्रकट की।

× — × — × — ×

उस गाँवके एक अच्छे जमे हुवे काश्तकार हरि-प्रसाद अपना पुत्र भरत और उसकी माँको छोडकर चल बसे। कुछ दिनोंके बाद सर्पदंशके कारण भरतनेभी वही राह ली। बुढिया पर आकाश टूट पडा। तब उसने हृषीकेश के गुरुकुलमें पढनेवाले अपने भांजे सतीशको बुलवा लिया।

सतीशकी परीक्षाएं होकर वह अच्छी तौरसे उत्तीर्ण हो गया था। केवल उपाधिप्रदानविधि बाकी बचा था। वह भी संपन्न हुवा। सतीशको बडे गौरवके साथ "विद्यालंकार" उपाधि दी गयी। समारम्भ समाप्त होतेबराबर वह मौसीके गांवको निकल पडा।

आज शामको वह आ पहुंचा था।

× — × × ×

आतेबराबर जिस कन्हैय्याका और सतीशका साथ हुवा, उससे बातचित करके सतीशने यह मालूम कर लिया कि इस छोटेसे गांवमें विना रामशरणकी दूकानके ऐसी कोई जगह नहीं है कि जहाँ जाकर मनुष्य घण्टा-भर बैठ सके।

परन्तु दूसरे दिन वहाँ जाकर जब उसने वहाँके दूषित वातावरणका अनुभव किया, तब उसका जी उस दूकानमें बैठे हुवे लोगोंसे ऊब गया। उसने देखा कि यहां ब्राह्मण हैं, क्षत्रिय हैं, वैश्य हैं, और शूद्रभी हैं।

परन्तु ब्राह्मण पण्डित विश्वनाथ साहूकारी करता है। क्षत्रिय लच्छू अहीर भैसें चराता है। शूद्र कन्हैय्या कहार रखवाली करता है। शामको ये सब लोग इकठे होकर भंगमैय्याका आराधन करके परस्पर भेद भूल जाते हैं। और फिर गांवभरकी निन्दा करके घर जाकर सो जाते हैं।

जब सतीश गुरुकुल से बाहर निकला तब उसकी कल्पना थी कि चारों ओर ब्राह्मण अध्ययन—अध्यापन करते होंगे। क्षत्रिय गांवकी रक्षा करते होंगे। वैश्य व्यापारमें लगे होंगे, और शूद्र कलाओंके द्वारा उप-जीविका चलाते होंगे। परन्तु जब वह प्रत्यक्ष बाहरी जगत्में आ पहुंचा, और उसने यह सब अव्यवस्था अपनी आंखों देख ली, तब उसे साश्चर्य खेद हुवा।

वह सोचने लगा कि, "न मालूम ये कैसे लोग हैं! आखरी गाँववालोंकी निन्दा करनेसे इन लोगोंको मिलता भी क्या है! वस्तुतः देखा जाय तो ये अच्छे सुखी हैं। अगर सब मिलकर गांवकी उन्नति करनेका प्रयत्न करेंगे, तो चुटकियोंमें एक अच्छा खासा ग्रामराज्य निर्माण हो सकता है। इन लोगोंमें पण्डित हैं, धनी वैश्य हैं, अच्छे तगडे क्षत्रिय हैं, और जो श्रम करके गांवकी सुधार कर सकते हैं ऐसे शूद्र भी हैं। परन्तु उनकी भंग, चडस, और निन्दा इन तीनोंमेंसे उन्हें छुट्टी मिले तब तो!"

बार बार सोचनेपर भी उसे कुछ उपाय न सूझा। शामको अकेलाही घूमने जाया करता। वहां बैठकर यही विचार किया करता। परन्तु निराशाके सिवा और कुछ उसके हाथ न लगा। आखरी उसने अपने अध्यापक-जीको एक पत्र लिखा जिसमें कि उसने उस

गांवकी सब हालत लिखकर प्रश्न किया था, कि "ऐसी अवस्थामें मैं क्या करूं ? केवल एक अच्छा व्याख्यान दे डालकर ये लोग सुधरेंगे नहीं। मैं तो हार मानता हूं। अब आपही कुछ उपाय सुझाइये।"

उसने आठ दिन न मालूम कैसे बिताये। नौवें दिन देहाती डाकिया उसके पत्रका उत्तर लेकर आगया। सतीशने बडी उत्सुकतासे उसे खोला। उसमें लिखा था,

"प्रिय सतीश, सस्नेहाशीर्वाद, तुम्हारा पत्र मिला। तुमने लिखा है कि ' स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।' इस वचनके अनुसार तुम्हारे उस छोटेसे गांवके लोग क्यों नहीं बर्ताव करते ? क्यों वे गांववालोंकी निन्दामें अपना समय व्यर्थ खो देते हैं ?

प्रिय शिष्य, आजतक उनके सामने किसका आदर्श था ? वेही पुराने लोग जो कि इसी प्रकार अपना समय व्यतीत करते थे। परन्तु सद्भाग्यसे अब तुम स्वयं वहाँ पहुंचे हो, और कुछ दिनोंतक वहाँ रहोगे भी। तो फिर अपने स्वतःके बर्तावसे उन लोगोंके सामने एक उत्कृष्ट आदर्श निर्माण कर दो। फिर देखोगे कि आस्ते आस्ते उन लोगोंमें परिवर्तन होते जाता है। इत्यादि—।"

पत्र पढकर समाप्त करते बराबर सतीशने निश्चय कि " मैं कलसेही कर्म प्रारम्भ कर दूंगा। मैं ब्राह्मण हूं।

शमो दमः तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥

मैं इन कर्मोंमेंसे शौच (स्वच्छता) तथा ज्ञान इनका अनुष्ठान प्रारम्भ करूंगा।"

जिस दिन वह आगया उस दिन उसका और कन्हैय्याका परिचय हो गया था। सतीशके मीठे शब्दोंके कारण कन्हैय्याके बुरी आदतोंके मारे बिगडे हुवे अन्तःकरणपरभी कुछ अच्छा ही परिणाम हुवा था। सतीशने अपने अनुष्ठानको कन्हैय्यासेही प्रारम्भ करनेका निश्चय किया।

दुसरे दिन सुबह उठकर वह कन्हैय्याके घरकी ओर गया। कन्हैय्या मुहसे किसीको गालियां दे रहा था, और हाथसे मछलियां पकडनेके लिये जाल बुन रहा था। सतीशको देखते बराबर वह चुप रहा।

" कहो कन्हैय्या, क्या चल रहा है ? "

" कुछ नहीं बाबूजी— "

" ना भैय्या, मुझे बाबूजी न कहा करो। मेरा नाम सतीश है। क्या मछलियाँ पकडने लिये जाल बन रहा है ? यहाँ मिलती भी हैं ? "

" हां सतीशभैय्या, मिल जाती हैं छोटीं छोटीं।"

" अच्छा यह तो बताओ कि तुम लोगोंके कितने घर हैं यहाँ ? "

" हैं दसेक। साले सबके सब गँवार हैं। शराब पीकर दिनभर लडते झगडते हैं।"

" इनमेंका कोई पढा लिखा भी है ? "

" ऊं हूं ! लडनेके सामने समय मिले तब ना ! "

" परन्तु तुम तो अवश्य कुछ न कुछ पढे होंगे। "

अब कन्हैय्या कुछ झेंपसा गया। थोडी देरसे वह बोला "क्या कहूं, सतीश भैय्या ! मेरे ददाने बचपनसे मुझे इन्हीं बातोंमें फँसा दिया। इस्कूलका मुँह तक न देखनेको मिला ! अब कहींसे किसीका चिठ्ठीपत्तर आगया तो पढनेके लिये पण्डतके पास जाना पडता है ! "

" अच्छा अब पढोगे ? "

" अब ? " आश्चर्यचकित होकर कन्हैयाने पूछा।

" हाँ अब। क्यों ? क्या कोई कठिन बात है ? "

" नहीं। लेकिन कौन पढायगा ? "

" मैं।"

" तुम-आप पढाओगे ? "

" हाँ। मैं पढाऊंगा। "

" सचमुच ? "

" हाँ सचमुच। आजसेही ! चलो हमारे घर चलें। अभीसे हम लोग प्रारम्भ करेंगे। "

कन्हैय्या अपना जाल बुनना वहीं छोडकर बडी उत्सुकतासे सतीशके पीछे चला। घर जाकर जब सतीशने उसको एकही दिनमें " घर, चल " ये दो शब्द लिखना और पढना बता दिया, तब वह अस्मानको नीचा समझने लगा।

दूसरे दिनसे कन्हैय्याकी पढाई शुरू होगयी।

× × × ×

"क्यौं पण्डत, वह विद्यालंकार नहीं दिखा उस दिनसे?" आठ दस दिन बाद शामको रामशरणके दूकानमें जमी हुई मैफलमें बिहारीने पूछा।

"हां। नहीं आया ससुरा। न जाने शामको क्या करता है।"

"और क्यौं जी," लच्छू बोला, "कन्हैय्या भी नहीं दिखा!"

"गया होगा कहीं।" रामशरणने उत्तर दिया।

"अरे सुना बिहारी, वह विद्यालंकार तुम्हारे उस आमवाले खेतके ऊपरवाले खेतमें बांध बनवा रहा है।" लच्छू ने कहा।

"हमारे आमवाले खेतके ऊपर? बुढियाके खेतमें?"

"हां। वहीं।"

"तब फिर हमारे खेतमें आनेवाला पानी रुक जायगा?"

"सो तो जायगाही।" लच्छू बोला।

"तब फिर उसे मना करना होगा?"

"जरूर। और देखा तुमने? उसने मन्दरपरसे आनेवाला रास्ता सफा करके तुम्हारे घरके पास जो खूंट गडा था सो निकाल दिया।"

"क्यौं?"

"कहता था कि गाडीवालोंको गाडियां चलानेमें तकलीफ होती है।"

"अरे, तब तो यह आगे चलने लगा! हमारे गांवमें आकर हमसे इतनी ज्यादती!"

"इतनेसे क्या हुवा है!" लच्छू आंख चमकाते हुवे बोला, "देख लेना, कुछ दिनमें वह गांवका राजा बन जायगा। तुम बैठे रहोगे यहीं भंग छानते हुवे!"

"पण्डत, क्या करें तब? क्या उसका वह बांध रातको चलकर तोड दें!" बिहारीने पूछा।

"बस बस! क्या बात कही! अगर इस समय कन्हैय्या यहां होता तो फिर वह चुटकियोंमें इस कामको कर देता।"

इतनेमें अचानक कन्हैय्या वहां आ पहुंचा। उसे देखते बराबर सब लोगोंने एकही शोर मचा दिया।

"अरे काहो कन्हैय्या! ललुआ कहां गये थे? अरे तुम्हारे लायक एक काम आ पडा है यहां। और तुम्हारा पताही नहीं।"

"मेरे लायक?"

"हां। तुम्हारे लायक। जरा अन्दर तो आओ।"

फिर उसे अन्दर बिठलाकर बिहारी और पण्डत बिस्वनाथ इन दोनोंने उसे बांध तोडनेका काम समझा दिया। और यहभी कहा कि वह काम किसीको न समझते हुवे हो जाना चाहिये।

"लेकिन किसने बांधा है वह बांध?" कन्हैय्याने पूछा।

"वही सफेद बुगला!" पण्डत हंसकर बोला।

"कौन?" साशंक होकर कन्हैय्या बोला।

"अरे वही सतीश विद्यालंकार!"

कन्हैय्या एकदम उठकर खडा हो गया, और बोला, "अच्छा हुवा कि यह काम तुमने मुझे कहा। अगर तुम करने जाते, तो एकेकका सरही टूट गया होता!"

"क्या बोले? कौन तोडता हमारा सर?" लच्छूने पूछा।

"और कौन? मैं! तुम लोगोंने सतीशभैय्याको पहचाना नहीं अभीतक। उनके बराबर लठ चलाने वाला आदमी अपने इलाकेभरमें नहीं है। मैं उनके पास पहिली पुस्तक और लठ चलाना सीख रहा हूं। और एक बात याद रखना। अबकी बार अगर किसीने उन्हे बुगलाउगला कहा, तो उसके दांत सारे तोड दूंगा।"

इतना कहकर कन्हैय्या चल पडा। सब लोग भौंचके होकर उसकी ओर देखते रहे।

× × × ×

जब उन लोगोंने यह देखा कि उनका एक अच्छा साथी, जिसके बलपर वे लोग अनेक षड्यन्त्र रचा करते थे, शत्रुपक्षसे जाकर मिला है, तब उनकी आधी शक्ति कम होगई। उनके पास केवल एक उपाय बचा। वह था अपवाद लगाकर सतीशका नाम कलंकित करनेकी चेष्टा करना।

दूसरे दिन गाँवमें वार्ता प्रसरित हुई कि सतीश मछलियाँ खाता है, और इसी लिये उसने कन्हैय्यासे मित्रता करा ली है।

इसका कोई उत्तर देनेका सतीशने प्रयत्न न किया। उसने निश्चय किया कि क्षमा करना ब्राह्मणका कर्तव्य है। अतएव मुझे क्षमावृत्ति धारण करनी चाहिये।

जब इसका कोई उत्तर न मिला तब और एक प्रवाद निर्माण हुवा। सतीश कहारोंके घर जाकर शराब पीता है।

कन्हैय्याने जब यह बात सुन ली, तब वह त्वरासे सतीश के घर आ पहुंचा। सतीश कोई पुस्तक पढते बैठा था। कन्हैय्या बोला, " सतीश भैय्या ! "

" कौन कन्हैय्या ? आओ न ! "

" आपने सुना भैया ? लोग कहते हैं कि आप हमारे घर आकर शराब पीते हैं ! "

" अच्छा ! तब फिर ? "

" मैं जानता हूं कि यह बात कहां पैदा होगई है। अभी जाकर उन लोगोंकी खोपडी तोडकर आता हूं। "

" अरे ठैरो ! किसकी खोपडी तोड रहे हो ? "

" उन्हीं बदमाशोंकी जो रामशरणकी दूकानमें इकट्ठे होते हैं। "

सतीश झट उठ खडा हो गया। उसने कन्हैय्याकी कलाई पकडकर उसे अपने पास लाकर बिठवा लिया। और फिर बोला—

" कन्हैय्या, ! बताओ, तुम्हारेमें कब नरमाई आ जायगी ? जराजरासी बातपर लोगोंकी खोपडियां फोडने-पर उतारू हो जाते हो ! "

" फिर वे क्यों ऐसी बदमाशी करते हैं ? "

" करने दो। जरा धीरज धरनेसे सब कुछ ठीक हो जायगा। आज वे अपने काम छोडकर निन्दा करते हैं। संभव है कि कुछ दिनोंसे वे खुदही समझ जायेंगे, कि वे जो कुछ करते थे, वह बुरा था। और फिर स्वयं ही मार्ग पर आजावेंगे। सर तोडनेसे क्या लाभ होगा ? "

× × × ×

अचानक एक दिन वार्ता सुनाई पडी कि बिहारी को सात आठ दस्त हुवे हैं, और एक दो कैमी। उस गांवके एकमात्र वैद्यने बिहारीकी तबियत देख ली, और उसके पितासे कहा, " लालाजी, लच्छन अच्छे नहीं हैं ! "

व्याकुल पिताने पूच्छा " क्यौं ? क्या हुवा है ? "

" हैजा ! "

हैजेका नाम सुनतेबराबर रामशरण, पण्डत बिस्व-नाथ, लच्छू आदि सब मित्रगण चुपकेसे एकेकर खिसक गये। क्यों नहीं खिसकेंगे ? हैजा तो सांसर्गिक बीमारी है। उन्हें भी तो अपने अपने प्राणोंका डर है !

थोडी देरसे बिहारीके घरमें उसकी मां, पत्नी, पिता, और वह देहाती वैद्यभूषण इनके विना कोई-भी न बचा। नौकर भी दूर दूर ही रहने लगे। सरकारी अस्पताल अथवा डॉक्टर वहाँसे आठ नौ कोश दूर था। वहांतक बिहारीको ले चलना असंभव था। प्रतिक्षण उसकी हालत बिगडते जा रही थी। डॉक्टरको बुलानेपर वह शायद दूसरे दिन आ पहुंचता। अब एक-मात्र ईश्वरकाही भरोसा था।

एकदम हाथमें एक छोटासा बक्स लेकर सतीश वहां आ पहुंचा। शुभ्रवेशधारी तेजस्वी सतीशने बिहारीके पिताको प्रणाम कर पूछा, " क्या बिहारीलालजी बीमार हैं ? "

ऐसी दुःखमय अवस्थामेंभी सतीशको देखकर बिहारी-के पिताके अंतःकरणपर अच्छा असर हुवा। वे उठकर बोले, " आइये। क्या करें ? अब सब ईश्वरके हाथ है। दवाइयां चल रही हैं। परन्तु प्रतिक्षण प्रकृति गिरतेही जा रही है। "

" घबराइये नहीं। जरा मैं उनकी तबियत तो देखूं ! "

" क्या आप कुछ जानते हैं ? "

" जी हां। हृषीकेशमें मैंने तीन वर्षतक वैद्यकका अध्य-यन किया है। कहां हैं बिहारीलालजी ? "

लालाजी बडे आदर के साथ सतीशको अन्दर ले गये। उसने देखा कि एक चौपाईपर क्षीण बिहारी लेटा हुवा है, और पडोसमें बैठकर वैद्यरत्न सिल्लीपर कुछ घिस रहे हैं।

सतीशने बिहारीकी तबियतका अच्छी तौरसे निरीक्षण किया। और फिर पूछा, "इनको क्या दवाई दी जा रही है?"

"यह हैजेपरकी मात्रा है।" वैद्यराज बोले।

"किसने कहा कि इन्हें हैजा हो गया है?"

"उलटियाँ और दस्त जो हुवे हैं ?" कुछ सिटपिटाकर वैद्य बोले।

"क्या इनकी पिण्डलियाँ दुखतीं हैं? प्यास लगी है इन्हें?"

"नहीं!"

"तब फिर आपने कैसे कहा कि इन्हें हैजा हो गया है? और ये विरुद्धप्रकृति दवाइयाँ इन्हें देनेसेही प्रकृति अधिकाधिक बिगड रही है। लालाजी, चिन्ता न कीजिये। ईश्वरकी इच्छासे सब कुछ ठीक हो जायगा। यह सब उपद्रव शैल्यके मारे हो रहा है।"

सतीशने तुरन्तही बक्समेंसे दवाइयाँ निकालकर एक मिश्रण बनाया और बिहारीको पिला दिया। थोडेही देरमें बिहारीके मुखपरके भावोंमें परिवर्तन हुवा। अब वह कुछ सावधान दिखने लगा। यह देखकर वैद्यरत्न चुपचाप किसीको न कहते हुवे चल पडे।

दो तीन दिनतक सतीश दिनमेंसे कई बार आकर अपने हाथों बिहारीको औषधि पिलाया करता। चौथे दिन बिहारी स्वस्थ हो गया।

× × × ×

लालाजीके हृदयपर सतीशके इस व्यवहारका इतना अच्छा असर हुवा कि वे उसे देवही मानने लगे। उसके कथनके अनुसार उन्होंने गाँवके लडकोंके लिये एक अच्छी पाठशाला बंधवा दी।

बिहारीका मैफलमें जाना बंद हुवा। अब वह सतीशका साथी बना। गाँवके पास एक खाई थी। बरसातके दिनोंमें उसमें अत्यधिक कीचड हो जाया करता, और जानवरों तथा मनुष्योंको उस कीचडमेंसे पार होते समय बडी तकलीफ होती। सतीशने उस खाईको बूरनेका निश्चय किया। बिहारीने उसे ससुरालसे मिली हुई अंगूठी बेचकर पैसोंकी मदद की। कन्हैयाने अपने कहारोंको वसीट कर काममें लगवा दिया।

काम चल रहा था। एक दिन लच्छू आकर काम देखता रहा। सतीश हाथकी कुदाली छोडकर उसके पास गया, और उसके कन्धेपर हाथ धरकर बोला, "क्यों लछमन भैय्या, हम लोगोंको कुछ मदत न करोगे?"

लच्छू शरमाकर आगे बढा और फिर शामतक वहांसे न हटा। उसके पिता भोलू जब शामको वहां आ पहुंचे, तब लच्छूको और सतीशको काम करते हुवे देखकर उन्होंने खुद आगे हो कर कुदाली उठाई। सतीशने मना करने परभी न माना। कहने लगे कि, "जब तुम्हारे जैसे बह्मन काम कर रहे हैं, तब हमारा तो जनम ही मिट्टीमें जा रहा है।"

काम समाप्त होनेके बाद भोलू अहीरने वहां काम करनेवाले सब लोगोंको शाक पूडीका भोजन करवाया।

एक दिन इन बूढोंने मिलकर एक सत्यनारायण करनेकी योजना की। सत्यनारायणके बाद सतीशका व्याख्यान होनेवाला था। बडे जोरशोरसे तैय्यारियाँ हो गयीं। सब लोगोंके घर बुलौआ पहुंचाया गया। गांवके हनुमानजीके मन्दरके सामने सत्यनारायण की कथा बांची जायगी।

शामको पण्डत जगन्नाथजीने कथा बांची। सब लोगोंमें प्रसाद बांटा गया, और फिर सतीश व्याख्यान देनेके लिये खडा हुवा। वह एक अच्छा वक्ता था। गुरुकुलमें उसने वक्तृत्वका अभ्यास किया था। उसने बडे अच्छे शब्दोंमें स्वकर्मकी मीमांसा की। प्रत्येक मनुष्य उसकी ओर सौंपा हुवा काम अगर मन लगाकर करता जावे, तो फिर गांव कितना सुखी हो सकता है और समाजगङ्गाका प्रवाह सारे विश्वको पुनीत करते हुवे स्वातंत्र्यसागरमें जाकर कैसा विलीन होता है, इत्यादि बातें उसने अन्यान्य किस्सोंके द्वारा बडी अच्छी तौरसे समझा दीं। सब लोग गद्गद हो उठे।

दूसरे दिन पण्डित बिस्वनाथने सतीशको मिलकर पाठशालामें लडकोंको पढानेका अपना निश्चय प्रकट किया। सतीशने सहर्ष उसे संमति दे दी।

बचा एक रामशरण। उसके स्वभावमें कोई अधिक परिवर्तन नहीं हुवा। परन्तु साथीदार न होनेके कारण उसे अब किसीकी मजाक करनेका साहस नहीं होता।

श्रीगुरु-कुल, चित्तौडगढ

(ले०— श्री० पं० गंगाप्रसादजी उपाध्याय)

ओ३म् तेजोऽसि तेजो मयि धेहि। वा०य०१९-९॥
(हे प्रभो ! आप तेज हैं। हममें तेज दीजिये)

चित्तौडगढ एक परम पुनीत वीरभूमि है। यद्यपि यह आर्यावर्तका भौगोलिक केन्द्र नहीं तथापि कई शताब्दियोंसे यह हमारी सभ्यताका सांस्कृतिक केंद्र रहा है। इस उजडी हुई नगरीकी एक एक ईंट आर्य जातिके शरीरमें नवीन रक्तका संचार करती है। वीर महाराणा प्रतापकी यह कर्मभूमि थी। बाह्य आक्रमणोंसे देशको मुक्त करनेका यह पहला प्रयास था, और यद्यपि महाराणा प्रतापको सफलता प्राप्त नहीं हुई, तथापि यह कहनेमें संकोच नहीं किया जा सकता कि जातीय दृष्टिकोणसे यह हार भी जीत थी। यह मृत्यु भी जीवन था। महाराणा प्रतापकी स्मृतिमात्रमेंही जो विद्युत्मयी उत्तेजना है, वह सैकडों विजयोंमें भी नहीं पाई जाती। यही कारण था कि ऋषि दयानंदने सत्यार्थ प्रकाशकी नीव इसी उदयपुर राज्यमें स्थापित की। वे सत्यार्थ प्रकाशकी भूमिकामें लिखते हैं - " स्थान महाराणाजीका उदयपुर –भाद्रपद शुक्ल पक्ष संवत् १९३९ "।

मै जब इस वाक्यको पढता हूँ तो मेरी आत्मामें अनेकों भाव उठते हैं। ऋषि दयानंदके हृदयमें उदयपुरका कितना मान था। वे 'महाराणाजी'को किस श्रद्धाभावसे देखते थे। उनके हृदयमें इस मेवाड प्रदेशके लिये कितना आदर था। जिस प्रदेशमें महाराणा प्रताप जैसे महापुरुषके उत्पन्न करनेकी शक्ति हो, वह प्रदेश भविष्यमें क्या कुछ नहीं कर सकता। ऋषि दयानंद महाराणाजीका नाम नहीं देते। वे महाराणा सज्जनसिंह नहीं लिखते। वे एक व्यक्तिका नाम लेकर महाराणाके यशको सीमित नहीं करना चाहते। उनका संकेत राणाओंकी परम्परा मात्रसे हैं। महाराणा प्रतापने स्वतंत्रताकी वह लहर उत्पन्न की, जो किसी एक महाराणातक सीमित नहीं रह सकती। उदयपुरकी वंश-परंपरामें वह विद्युत् विद्यमान् है। राणाप्रताप अपने वंशजोंको दाय भागमें प्रजाका रक्त चूसनेवाला साम्राज्य नहीं दे गए, अपितु वे एक ऐसा आदर्श छोड गए हैं कि देश और जातिके लिये मर मिटनाही क्षत्रियोंका परमधर्म है। मेरी धारणा तो यह है कि यद्यपि कई सहस्र वर्षोंसे गिरती हुई इस आर्य जातिमें अनेक योद्धा उत्पन्न हुए जो अपनी वीरताके लिये प्रसिद्ध थे। परन्तु राणा–प्रताप वह पहले वीर पुरुषको जो अपने लिये नहीं, अपितु जातिके लिये लडे। जातीयताका नवीन भाव महाराणा प्रतापसे आरम्भ होता है।

राणा प्रतापने वह किया जो एक क्षत्रियके लिये संभव था, अर्थात् बाह्य आक्रमणसे संस्कृतिकी रक्षा करना। तलवारका उत्तर तलवारसे देना। परन्तु आर्य संस्कृतिमें भीतरसे जो घुन लगा था उसको निकालकर स्वास्थ्य प्रदान करना क्षत्रिय राजाके सामर्थ्य और कार्य-क्षेत्रसे बाहर था। इसके लिये तो एक ऋषिकी आवश्यकता थी। तलवार तलवारकाही काम कर सकती थी और राणा प्रतापकी तलवारने उस कार्यको बडी उत्तमतासे किया, परन्तु संस्कृतिके आन्तरिक दोषोंको निकाल बाहर करना ऋषि दयानन्दका काम था। भाद्रपद शुक्ल पक्ष १९३९ को उन्हीं महाराणाजीके उदयपुरमें सत्यार्थ प्रकाश लिखकर ऋषिने वैदिक संस्कृतिको फिर नीरोग और स्वस्थ बनानेका प्रयत्न किया, और उसी प्रयत्नको सफलीभूत करनेके लिये श्री स्वामी व्रतानन्दजीने गुरुकुल चित्तौडकी नींव डाली है। हम आशा कर सकते हैं कि राणा प्रतापकी क्षात्र कीर्ति और ऋषि दयानन्दकी ब्राह्म कीर्ति दोनोंका सहयोग पाकर चित्तौडगढके ब्रह्मचारी फिरसे वैदिक–संस्कृतिका जीर्णोद्धार करेंगे।

आज गुरुकुल कोई नया शब्द नहीं है। अर्द्ध शताब्दिसे हम इसको सुनते आरहे हैं। १९०१ ईसवीमें जब गुरुकुल कांगडीका उद्घाटन हुआ था। उस समय गुरुकुल एक

नवीन बात समझा जाता था । लोगोंके हृदयोंमें अनेक भाव थे। किसीने पहले गुरुकुलका नामही नहीं सुना था। आर्योंने भी सत्यार्थ प्रकाशमेंही पढ़ा था। उससे दो तीन वर्ष पूर्व श्री स्वामी दर्शनानंदजीने एक गुरुकुल सिकन्दराबाद जि० बुलन्दशहरमें खोला था। परन्तु उसकी जानकारी बहुत कम लोगोंको थी । काङ्गडी गुरुकुलके खुलनेके पश्चात् तो दूसरे देशोंमें भी 'गुरुकुल'की धूम मच गई। श्री स्वामी श्रद्धानन्दजीके जीवनमें कोई उच्च विदेशी यात्री ऐसा नहीं था जिसको गुरुकुल काङ्गडी देखकर प्रसन्नता न होता हो। आज आर्यसमाजके भी कई गुरुकुल हैं, और आर्यसमाजके बाहर भी जैन गुरुकुल तथा अन्य गुरुकुल हैं। 'गुरुकुल' शब्द आज बड़ा आकर्षक होता जा रहा है। यह सब ऋषि दयानन्दका प्रताप है।

ऋषि दयानन्दने अपने ग्रंथोंमें गुरुकुलकी शिक्षाका यह उद्देश रक्खा है:-(१) ब्रह्मचर्य व्रत। (२) अध्यात्मिक जीवन (३) वैदिक संस्कृति। ब्रह्मचर्य समस्त उन्नतियोंका मूल मंत्र है। ब्रह्मचर्यकी जितनी महिमा वैदिक ग्रंथोंमें है। उतनी और कहीं नहीं मिलती। ब्रह्मचर्यके वैदिक आदर्शका ह्रास न केवल आर्यावर्तके अपितु सकल भूमण्डलके न्हासका कारण हुआ। संसारकी अशान्तिका मूल कारण भोग है, और भोग वाद उस समयतक जा नहीं सकता, जबतक कि ब्रह्मचर्यका प्रचार न हो। ब्रह्मचारी भोगी नहीं और भोगी ब्रह्मचारी नहीं। ब्रह्मचर्यका अर्थ केवल वीर्यरक्षा ही नहीं है, यद्यपि ब्रह्मचर्यकी आधार शिला वीर्य-रक्षा है।

वीर्य-रक्षासे स्थूल शरीरकी पुष्टि तो होतीही है, परन्तु इससे सूक्ष्म शरीरकी सूक्ष्म वृत्तियाँ इस प्रकार जागृत हो उठती हैं, कि हमको आध्यात्मिक प्रकाशका भान होने लगता है। वीर्य-रक्षाका आत्म-विद्यासे घनिष्ठ सम्बन्ध है। जिसने ब्रह्मचर्य नहीं रक्खा उसको आत्म-जागृतिमें अन्धकारही अन्धकार दिखाई देता है। इसलिए उपनिषद्‌में कहा है 'यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति' अर्थात् ब्रह्मचर्य हमारी भीतरकी आँख खोल देता है। हम अदृष्ट शक्तिको देखने लग जाते हैं, और अपना और संसारका वास्तविक मूल्य आंकनेके योग्य हो जाते हैं। ऋषि दयानन्दने देखा कि वर्तमान युगमें विद्यालय तो बहुत हैं, परन्तु उनमेंसे किसीमें ब्रह्मचर्यपर बल नहीं दिया गया। इसी कारणसे नास्तिकता, अनात्मवाद, भोगवाद और प्रकृति-वादका प्राबल्य हो गया। 'ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्'का सिद्धान्त भूमण्डल भरमें व्यापक हो रहा है। और उसीके कारण यह सब अशान्ति है।

आज कल सब जगह भूखकी चीख पुकार है, और आर्यावर्तमें विशेषकर। हम इस समय दुर्भिक्षके द्वारपर खड़े हैं। कल खाना मिलेगा या नहीं, इसकी चिन्तामें हम अपने मुँहमें रक्खी हुई रोटीका भी स्वाद नहीं ले रहे। भविष्यकी चिन्ता वर्तमानके सुखको दुःखमें परिवर्तित कर रही है। लोग कहते हैं, हमको आत्म-विद्या नहीं चाहिये, रोटी चाहिये, परन्तु हम भूल जाते हैं कि रोटी चिल्लानेसे रोटी और हमसे दूर भागती है। रोटीके अभावका कारण भी आत्म-विद्याका अभाव है। वे प्रवृत्तियाँ जो परोपकारकी ओर हमको ले जाती हैं आज प्रसुप्त हो रही हैं। यदि हमारे पास रोटी नहीं है तो दूसरोंसे छीनना चाहते हैं, यदि हमारे पास रोटी है तो भी दूसरोंसे इसलिये छीनना चाहते हैं कि हम उनको पद दलित कर सकें। हमको भय है कि यदि सबको रोटी मिलने लगेगी तो वे स्वतंत्र हो जाएंगे और हमारे आधीन न रहेंगे। इस प्रकार सभ्य जगत् खाऊ जगत् बन रहा है। असभ्य जगत्‌की तो गिनतीही क्या है? इसका इलाज क्या है? क्या अनात्मवाद इस दोषका निवारण कर सकेगा? ऋग्वेदमें ठीकही कहा है:- 'उत आशित-मुपगच्छन्ति मृत्यवः' (ऋ० १०।११७।१) 'खानेवाले भी तो मरते हैं'। मैं तो समझता हूँ कि यदि संसारके प्रत्येक प्राणीके घरको पुष्कल अन्नसे भर दिया जाय और उसकी आसुरी प्रवृत्तियोंको न रोका जाय, तो मानव-जाति सर्वनाश और अशान्तिसे बच नहीं सकती। जबतक रोटीको छीननेकी प्रवृत्ति रहेगी, यह माता वसुन्धरा उर्वरा होते हुए भी हमको मृत्युके मुखसे बचा नहीं सकती। अतः दुर्भिक्षके रोकनेके लिये जहाँ भूमिके प्रत्येक अंगुलसे अन्न उत्पन्न करनेका यत्न किया जाय, और जहाँ यातायातका उत्तम प्रबन्ध किया जाय, वहाँ मनुष्यकी

भेड़िया बननेकी प्रवृत्तिको भी रोकना होगा। यही तो आध्यात्म है। उपनिषद्में कहा है—

> समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नो अनीशाया शोचति मुह्यमानः, जुष्टं यदा पश्यति अन्यमीशं अस्य महिमानमिति वीतशोकः ॥

सच्ची मानवता, सच्चा पुरुषार्थ, सच्चा परोपकार और सच्चा त्यागही आध्यात्मका सार है। इसको जागृत करना गुरुकुलका उद्देश्य है।

वैदिक संस्कृतिकी यह विशेषता है कि वह आधिभौतिक उन्नति और आध्यात्मिक उन्नतिको परस्पर विरोधी नहीं समझती। इन दोनोंमें वही सम्बन्ध है जो शरीर और शरीरीमें। बिना शरीरीके शरीर कैसा और बिना शरीरके शरीरी कैसा? यहाँ अवसर नहीं है कि वैदिक-संस्कृति और अन्य संस्कृतियोंकी तुलनात्मक विवेचना की जाय। केवल एक बातसे वैदिक-संस्कृतिकी श्रेष्ठता समझमें आ सकती है। जब वैदिक-संस्कृतिका राज्य था, उस समय आर्यावर्त उन्नतिके शिखरपर था। वैदिक-संस्कृतिके ह्राससेही भारतका ह्रास हुआ। इससे सिद्ध है कि वैदिक-संस्कृतिमें कोई एक विशेषता थी, जिसने वेदानुयायियोंको सांसारिक अभ्युदय और पारलौकिक निःश्रेयसकी प्राप्ति कराई। उसी विशेषताकी खोजमें ऋषि दयानन्दने अपना सर्वस्व त्याग किया। गुरुकुलोंका एक परम उद्देश्य यह भी है कि वैदिक-संस्कृतिकी विशेषताओंको खोज निकालें और संसारमें उनका प्रचार करें।

श्री गुरुकुल चित्तौडगढ समस्त राजपूतानेका एकमात्र गुरुकुल है। ऋषि दयानन्दने अपने अन्तिम जीवनमें यह विचार किया था, कि राजपूतानेमें वेद प्रचारका विशेष प्रबन्ध किया जाय। स्वामी दयानन्द काठियावाड़में पैदा हुए, मध्य और आर्यावर्तके उत्तरीय भागमें प्रचार करते रहे, और अन्तमें राजस्थानमें उन्होंने शरीर छोड़ा। इससे विदित है कि वे राजपूतानेको कितना महत्व देते थे। उनको राजपूत जातिसे बहुत आशाएँ थीं। वे जानते थे कि राजपूत न केवल राम और कृष्णके वंशज हैं, अपितु इनको उनका वंशज होनेका अभिमान भी है। अन्य लोग ऋषियोंकी सन्तान होते हुए भी अपने पूर्वजोंके महत्वको भूल गये हैं, परन्तु राजपूत अब भी गर्वके साथ अपनेको सूर्यवंशी या चन्द्रवंशी कहते हैं, और मेवाड़के राजपूत तो 'शिशोदिया' नामसेही फड़क उठते हैं। गौरक्षाकी थोड़ी बहुत चिन्ता यदि किसीमें शेष है तो राजपूतोंमें। करौली राज्यके राजा अपनेको सिंह न कहकर 'पाल' कहते हैं, क्योंकि सिंह गायका रक्षक नहीं, भक्षक है।

Maharaja Bijaipal a descendant of Srikrishna, came from Mathura in 995 A. D. to the Sill Mani, close to Biana and established himself there as a powerful monarch. In recognition of their descent all the members of the Karauli family hear the appettation Pal, or protector (of course, understood), in contradistinction to the usual Rajput suffix of Singh, lion, which baest does not respect the sacred animal (History of the Mayor Cokege, 1897, p. 62)

शाहपुराके महाराजने ऋषि दयानन्दकी शिक्षा और दीक्षाको ग्रहण करनेके कारण यद्यपि अपना पहिला रक्खा हुआ नाम तो नहीं बदला तथापि अपने पुत्र और पौत्र-का नाम 'सिंह' पर न रखकर 'देव' पर रक्खा है। श्रीमहाराज कुमार साहेबका नाम सुदर्शन देव और श्री भँवरबना साहेबका नाम इन्द्रजित् देव है। सिंहके आदर्श और देवके आदर्शमें बहुत बड़ा अन्तर है। सिंहोंकी अपेक्षा देवोंसे मानवी कल्याणकी अधिक आशा है। अतः ऋषि दयानन्दने ठीकही सोचा था कि मानव जातिमात्रके कल्याणके लिये आवश्यक है कि राजपूतोंकी भग्नावशिष्ट (बची कुची) धर्मपरायणताकी पहिले रक्षाकी जाय। मैं समझता हूँ कि इसी भावनासे प्रेरित होकर श्री स्वामी व्रतानन्दजी गुरुकुल चित्तौडगढको खोलकर बैठे हैं। यह भावना बहुत शुभ, अत्यन्त उज्ज्वल और अत्यन्त पुण्यमयी है। यद्यपि इसके लिये तपस्वाओंकी बड़ी आवश्यकता है। यह अकेले स्वामी व्रतानन्दका

काम नहीं है वे न केवल हमारे धन्यवादके पात्र हैं अपितु सहयोगके भी।

यह तो स्पष्टही है कि आर्यावर्तमें राजपूताना सबसे पिछड़ा हुआ प्रान्त समझा जाता है। यहाँ शिक्षा बहुतही कम है। यहाँ यातायातकी कठिनाइयाँ बहुत हैं। यहाँ नई रोशनीकी सामग्रीकी भी कमी है। यहाँ 'अदीनाः स्याम शरदः शतम्' की आवाज भी बहुत कम सुनाई देती है। यहाँ सामाजिक बुराइयाँ बहुत हैं। यहाँ स्त्रियोंकी स्वतंत्रता अत्यन्त कम है। समाज-सुधारकी जो मशीनें अन्यत्र कामकर रही हैं, वे राजपूतानेमें दृष्टिगोचर नहीं हो रहीं। 'न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने' यह श्लोक मनुस्मृतिमें किसी राजपूतकी प्रेरणासेही मिलाया हुआ प्रतीत होता है। शराबकी भरमार, दहेज आदिकी कुप्रथाओंका भारी बोझ और सबसे अधिक शोचनीय राजपूतोंकी सुधारोंमें अरुचि। ये ऐसे भयंकर दोष हैं जो राजपूतोंकी नैसर्गिक वीरतासे देशको लाभ उठाने नहीं देते। परन्तु राजपूतानेमें उन्नतिका बीज अवश्य है, और इसी बीजका प्ररोहण श्री गुरुकुल चित्तौड़गढ़का उद्देश्य होना चाहिये। मैं यहाँ एक बात कहदेना चाहता हूँ—शिक्षाका प्रश्न बड़ा टेढ़ा है। यह नाककी सीधका रास्ता नहीं है। यह सब जानते हैं कि शिक्षाका अन्तिम ध्येय मनुष्यका पूर्ण विकास है:—

तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः।

परन्तु इस परमपद और हमारी वर्तमान स्थितिके मध्यमें बहुतसी मंजिलें हैं। हमको केवल यही देखना नहीं है कि हमको आना कहाँ है। हमको यह भी देखना है कि हम इस समय कहाँपर हैं। अपने उद्देश्यसे कितनी दूर हैं, और किस मार्गसे आना है। मार्गमें कितनी नदियाँ, कितनी घाटियाँ और कितने जंगल तय करने हैं। इन सबपर ध्यान देनेसेही हम अच्छी सड़क बना सकते हैं। हमारे ऋषियोंके समय सीमेन्टकी सड़क थी और गुरुकुलोंकी गाड़ी सरपट दौड़ सकती थी। आज उस सड़कमें गढ्ढे पड़ गए हैं, खाई खन्दक पड़ गए हैं। यह सब कुछ हुआ है जो शताब्दियोंकी असावधानीसे हो सकता था। अब सड़क नई बनानी है। झाड़-झंकार साफ करने हैं। नदियोंपर नए पुल बनाने हैं। केवल सड़कही नहीं बनानी। यात्रियोंको यात्राके लिये तैयार भी करना है। यात्री नहीं जानते कि उनको कहाँ पहुँचना है। वे साहस खो चुके हैं। वे किंकर्तव्य विमूढ़ होकर हर किसीके पीछे चलनेको तैयार हैं। इन कठिनाइयोंकी अवस्थामें आपने गुरुकुल चलानेका भार अपने ऊपर लिया है। कार्य जितना आवश्यक है उतनाही कठिन है। पग पगपर आपत्तियाँ हैं। इसलिये सावधानीकी आवश्यकता है।

गुरुकुल चित्तौड़के लिये एक सुविधा अवश्य है जो सबसे प्रथम खुलनेवाले गुरुकुलोंको नहीं थी। वह यह कि वह अपने अग्रजोंके अनुभवोंसे शिक्षा ले सकता है।

यह तो मान लेना चाहिये कि गुरुकुलके सभी ब्रह्मचारी उच्चतम शिक्षासे सुसज्जित नहीं हो सकते। न सब वैयाकरण हो सकते हैं, न सब वेदज्ञ। और जो वैयाकरण तथा वेदज्ञ होंगे उनमें भी तारतम्य अवश्य होगा। इसलिये प्रश्न यह नहीं है कि गुरुकुलके ब्रह्मचारी अधिकसे अधिक कितना ज्ञान प्राप्त करेंगे। प्रश्न यह है कि गुरुकुलके ब्रह्मचारीकी कमसे कम योग्यता क्या होगी। मेरा प्रस्ताव यह है कि गुरुकुलसे निकले ब्रह्मचारीको व्यावहारिक रूपसे संस्कृत भाषा (क्लिष्ट संस्कृत नहीं) अवश्य आनी चाहिये, जिससे संस्कृत और आर्य भाषाका अधिक प्रचार हो। दूसरे उसको सांसारिक व्यवहारका ज्ञान अच्छा होना चाहिये। तीसरे उसके सदाचारकी मात्रा बाहरी जगत् से बहुत ऊँची होनी चाहिये। ये तीन बातें न्यूनतम हैं। इनसे अधिक जो कुछ संभव हो वह हो जाए। यदि गुरुकुल इतना कर सका तो गुरुकुलीय शिक्षाके प्रचारमें बहुत उन्नति हो सकती है। हरएक विद्वान् नहीं बन सकता, परन्तु हरएक सदाचारी बन सकता है। इसपर सबसे अधिक ध्यान देना चाहिये। आचार्यके लक्षणही यह हैं कि वह आचार सिखावे और जो ब्रह्मचारी अपने आचार्यसे आचार न ले सका वह उस आचार्यका अन्तेवासी कहलानेका अधिकारी नहीं है।

अधिक मेद, व्याधि तथा मृत्यु

(१) सावधान रहिये कि तुम्हारे शरीरमें आवश्यकतासे अधिक मेद नहीं निर्माण होता। अगर प्रमाणसे अधिक मेद शरीरमें इकट्ठा हो गया तो फिर शरीरका सौष्ठव नष्ट हो जाता है।

(२) मेदके कारण तारुण्य बहोतही जल्द नष्ट होता है।

(३) मेदवृद्धि यह अकाल-मृत्युको किया हुवा निमन्त्रण है।

(४) अगर शरीरमें मेदकी अधिकता हुई तो फिर उस मनुष्यके हलचलमें शिथिलता आ जाती है।

(५) कई लोग यह समझ बैठे हैं कि स्थूल मनुष्य नीरोग प्रकृतिका और मजबूत होता है। फूले हुवे गाल स्वास्थ निदर्शक समझे गये हैं। परन्तु यह कल्पना सर्वथा असत्य है।

(६) शरीरमें अत्यधिक मेद-संचय हो जाना, यह आयुके लिये विघातक है। ऐसे मनुष्यपर व्याधियोंके हमले होनेका डर अधिक होता है। उसके शरीरमें रोग-प्रतिकारक शक्तिकी कमी होती है। इस कारण व्याधि उसमें सहजतया प्रवेश कर सकती है। मात्र फिर उसे वहाँसे हटाना एक मुश्किलका काम है।

(७) शरीरकी भिन्न भिन्न स्वाभाविक क्रियाएँ मेदके कारण रुकसी जाती हैं। अगर शरीरके बाह्य भागमें मेदवृद्धि हो गई हुई दिखाई दी, तो फिर यह निश्चित समझिये कि हृदय, मूत्राशयादि अन्तर्भागोंमें भी मेद इकट्ठा हो गया है।

(८) शरीरकी स्वस्थता हृदय, यकृत्, मूत्राशय आदि अवयवोंके सुस्थितिपर अवलम्बित है। इनके व्यापारमें रुकावट पैदा होनेपर शरीरकी स्वस्थता बिगड जाती है।

(९) किसी मनुष्यको अगर जड बुद्धि कहा तो जिस प्रकार उसे यह बात अच्छी नहीं लगती, बस उसी प्रकार उसे 'मोटे शरीरवाला' यह उपाधि भी अच्छी न लगनी चाहिये। जब कि समाजमें आरोग्यविषयक ज्ञानका अधिक प्रसार हो जायगा तबही यह बात होगी।

(१०) जिस मनुष्यका शरीर स्थूल होने लगता है, वह सुस्त बन जाता है। उसके शरीरमेंकी रोगप्रतिकारक शक्ति एकदम कम हो जाती है। थोडे अधिक कष्ट करने पर वह बहोत जल्दी थक जाता है। उसका हृदय तथा फेफडे कमजोर हो जाते हैं। उसमें कोई भी काम करनेकी शक्ति नहीं बचने पाती। निरन्तर मेदका बोझा होनेसे उसकी शक्तिका निष्कारण व्यय होता है। शारीरिक चपलताके साथ साथ मस्तिष्ककी दक्षता भी कम हो जाती है।

(११) अगर किसी मल्लको कुश्ती लडनेकी सिद्धता करनी हो, तो वह प्रथम मेद कम करनेके पीछे लगा रहता है। अगर शरीरमें अधिक मेद बचा तो फिर उसे जल्दही थक जानेका डर होता है।

(१२) लष्करी खाता यह अच्छी तौरसे जानता है कि मेदातिशय यह शारीरिक अशक्तताका चिन्ह है। इसी लिये जिसका शरीर अधिक मोटा होने लगा है, ऐसे मनुष्यको भरतीके लिये वह खाता पसंद नहीं करता। अगर पसंद किया भी तो उसे खूब श्रम करवाते हैं जिससे कि उसका मेद कम हो जाय।

(१३) शरीरमें मेदका होना यह एक अत्यन्त आवश्यक बात है। परन्तु उसकी वृद्धि शरीर दुर्बल होनेका चिन्ह है।

(१४) पेटको बल पडने लगे, तथा मनुष्यका सौष्ठव और नैसर्गिक आकृति बिगडने लगी कि तुरन्त उसने मेद घटानेके प्रयत्न शुरू करने चाहिये। इन प्रयत्नोंके अभावमें शरीर कब व्याधिका शिकार बन जायगा कह कहना असंभव है।

(१५) युवावस्थामें शरीरमें मेदोवृद्धि इसका अर्थ है वृद्धत्वको तथा व्याधिमालिकाको निमन्त्रण।

(१६) प्रत्येक मनुष्यने शरीरका सौष्ठव कायम रखनेके लिये प्रयत्न करने चाहिये। इस हेतुसे किये हुये प्रयत्नोंको कुछ न कुछ फल तो आताही है। अगर मेद कम करना हो तो जिन पदार्थोंके खानेसे मेदवृद्धि होती है ऐसे पदार्थोंको प्रयत्नपूर्वक टालना चाहिये। अथवा खूब व्यायाम करके मेद जला देना चाहिये।

(१७) जैसे जैसे बुढापा आते जायगा, वैसे वैसे शरीरका आकार बिगडकर वह मोटा होना सहज संभवनीय है, ऐसा मानकर अगर उसकी ओर दुर्लक्ष किया तो फिर बुढापा बहोतही जल्द आ पहुंचेगा।

(१८) व्याधि तथा शत्रु इनका प्रतिकार प्रारम्भसेही करना इष्ट है। इसी प्रकार शरीर मोटा होना प्रारम्भ हुवा कि झट उसके उपाय प्रारम्भ करने चाहिये। मेद-संचय इतना आस्ते कदम होता है कि उसकी ओर ध्यानही पहुंचने नहीं पाता। मनुष्यको उसका ज्ञान तब होता है, जब कि उसे उसके दुष्परिणाम भुगतने पडते है।

(१९) आपकी युवावस्था, उत्साह, शारीरिक तथा मानसिक शक्ति इनकी रक्षा करनी हो तो फिर मेदवृद्धि न होने दीजिये।

(२०) वैद्यशास्त्र कहता है कि मेदवृद्धि होनेसे कृश रहनाही अधिक श्रेयस्कर है।

(२१) अगर आप मेदके संचयसे बचना चाहते हैं तो फिर आपके शरीरको व्यायामके द्वारा सुदृढ बनानेकी आदत लगवा लीजिये।

विवाहित जीवन

(लेखक- श्री० लालचंदजी, कृष्णनगर, लाहौर)

(१) विवाहका उद्देश्य

मानव-जीवनका उद्देश्य जाननेसे विवाहका उद्देश्य स्वयमेव ठीक ठीक समझमें आ जाएगा।

मानव-जीवनका उद्देश्य मनुष्यके कर्तव्यसे जाना जाता है। मनुष्यका कर्तव्य है कि वह साथियोंकी उन्नतिमें सहायक हो, अपनी आत्मशक्तिका विकास करे, अपनी शक्तिका सदुपयोग करके हर प्रकारसे भलाईमें तत्पर रहे, अटल प्राकृतिक नियमोंको, जिन्हें ऋत कहते है, जाननेका यत्न करे, भगवान्से प्रेरणा चाहे, और उनकी आज्ञाका प्रसन्नतासे पालन करे, अपने आपको भगवान्के समर्पण करे, भगवत् पूजा, अर्थात् जनार्दन-पूजामें, आनाकानी न करे।

भगवत् पूजामें आत्मार्पणमेंही सारी शक्तियोंका अनुकूल उपयोग होता है, यही मनुष्यकी उच्च अवस्था है, इसीमें मनुष्यका त्राण है, अर्पणमेंही जीवनकी पूर्णता है। मनुष्य यदि चाहता है कि वह भगवान्की प्रसन्नता लाभ करे उसे नित्य निरंतर भगवत् प्रसाद मिलता रहे, तो उचित है कि वह आपसकी भलाईमेंही तत्पर रहे। परस्परकी निन्दासे बचे। परस्परकी उन्नतिकोही सच्ची उन्नति समझे। ऐसा व्यवहार करनेसे हृदयमें परम शान्ति रहेगी और परम ज्योतिका प्रकाश होगा।

मनुष्य साधन करता रहे और साधन फल भी भगवान्केही अर्पण कर दे, यही श्रेय है, इसीमें परम सुख है।

मनुष्यको यज्ञमय जीवन बनाना चाहिये, और आदर, सम्मान और उदारतासे यथायोग्य सबसे व्यवहार करना चाहिये। जो मनुष्य अपनी स्वार्थपूर्तिही जीवनका ध्येय मान लेता है, उसका पतन होता है।

न तो अकेला पुरुषही जीवन-यज्ञमें सफल हो सकता है और न अकेली स्त्रीही इस कार्यमें समर्थ है। इसलिए विवाहका उद्देश्य गृहस्थमें परस्पर सहायताद्वारा, एक दूसरेकी पूर्ति करते हुए कुलवृद्धि तथा सर्वांग-जीवनका विकास करना हुआ। कुलवृद्धि, सनातन मर्यादा-पालन तथा जातिकी उन्नति, ये तीनों निर्विघ्न हों, ऐसा तभी संभव है जब विवाहित जीवनका कुछ उद्देश्य हो ?

केवल अन्न खाना भोग भोगना प्रजाकी गणनामें वृद्धि करना, भोग सामग्रीके जुटानेमें संलग्न रहना आदि पर्याप्त नहीं। समस्त जीवन विकसित हो, अर्थात् शारीरिक मानसिक, आत्मिक हर प्रकारसे जीवनमें विकास हो, तथा ऐश्वर्यकी वृद्धि हो। गृहस्थमें परस्पर सद्भावसे बर्ताव करते हुए न केवल व्यक्तिरूप परंच समष्टिरूपमें भी सारा परिवार उन्नत होना चाहिये। विवाहित जीवनसे ये आशाएं पूर्ण हों, तभी संबंध सार्थक समझना चाहिये। जीवन-रथ परस्परके सहयोगसेही उद्देश्य पूर्तितक जा सकेगा। यदि गृहस्थमें एक दूसरेसे असहयोग हुआ तो गृहस्थ नरक हो जायगा और जीवनस्रोत सूख जायगा। परस्परका सहयोग विवाहित जीवनकी भित्ति है।

स्त्रीपुरुष मिलकर अपने ध्येयको पूरा करें तभी अभ्युदय हो सकता है। स्त्री केवल भोग करनेकी वस्तु नहीं है, वह सहधर्मिणी है, मानव-धर्मकी सहायक है। गृहस्थमें शान्ति हो, और वह शान्ति परस्परके सद्भावपर अवलंबित है, तभी गृहस्थमें उन्नतिकी संभावना है। गृहकलह तो बढे हुए ऐश्वर्यको भी धीरे धीरे क्षयकर देता है, और न केवल ऐश्वर्य, धन और जन दोनोंका ह्रास होता है। परस्पर प्रेम, जिसका आधार केवल विलासिता न हो गृहस्थके सुखमय जीवनके लिए परम आवश्यक है।

रागको प्रेम समझना और रागकी पुनरावृत्ति जो अनुराग है उसे प्रेमकी स्थिरता मानना, दाम्पत्य-जीवनकी एक भूल है। राग स्थिर नहीं रह सकता, एकसे यदि राग होता है तो दूसरेसे द्वेष अनिवार्य है।

प्रेममें व्यापकता है, प्रेम सभीके साथ किया जा सकता है। ममता तो स्वार्थकाही रूप है। जहां ममता होती है वहां प्रेम टिक नहीं सकता। मोहवालेकी तो दयनीय दशा होती है। वह बेचारा लाचार होता है, और किंकर्तव्य-विमूढ होता है। मोहमें फंसा हुआ तो कर्तव्य-अकर्तव्यकी सोचही नहीं कर सकता। दाम्पत्य-प्रेममें एक दिव्य भावना है इसेही धारण करनेमें गृहस्थकी सद्गति है।

परस्पर-प्रेम कैसे उत्पन्न हो? जबतक आपसका संबंध केवल कामवासनाका रहता है, आपसमें राग रहा करता है और रागमें चंचलता है। कोई वस्तु किसी अन्य वस्तुके साथ सदाके लिए चिपकी नहीं रह सकती। जब परस्परका स्वार्थ, एक दूसरेसे भोग करके सुख माननेका अनुभव घटता है, राग क्षीण हो जाता है।

पति पत्नीको और पत्नी पतिको अपने अधिकारमें लाना चाहते रहते हैं। जहां अधिकार है, आधिपत्य है, वहां समता नहीं रहती, विषमता आ जाती है, और विषमता सारे उपद्रवकी जड है। घरोंमें समताका अभाव है। विषमता छिपाए भी नहीं छिप सकती। प्रेममें समताका भाव है। प्रेम हृदयको पवित्र करता है, जीवनको उन्नत करता है। दो पवित्र हृदय आपसमें चिरकालतक प्रेम कर सकते हैं। जहां अपवित्रता आई, संशय उत्पन्न हुआ और जीवन क्षीण होना आरंभ हो गया।

परस्पर-प्रेम संयमपर निर्भर है क्योंकि बिना संयमके जीवन पवित्र नहीं रहता। पवित्र जीवन और सुन्दर जीवन एकही है। जीवनका सौन्दर्य परस्पर सत्य और प्रेमपर निर्भर है। गृहस्थीमें अविश्वासको कभी न आने दें। अपने प्रेम-भवनमें भेदके लिए स्थान न बनाएँ और न भेदको घुसनेही दें। बाहिरके लोग घरके युवक और युवतियोंके मन घरके लोगोंके प्रति बिगाडा करते हैं। ऐसे स्नेहियोंसे बचनेसे परस्पर प्रेममें वलझन नहीं पड सकती। सन्देह और अविश्वासही भेद और अंततः गृहकलह तथा नाशके मुख्य कारण हैं, इन्हें घरके स्वच्छ वायुमंडलमें न घुसने देना चाहिये।

जीवनका उद्देश आनंदकी प्राप्ति है और वह अर्पण-भावनामें निहित है। जहां परस्पर त्यागभावसे भोग भोगे जाएँगे वहां वैमनस्य नहीं हो सकेगा।

घरके बडे लोगोंको तो युवक-युवतियोंको सद्भावना और सद्विवेककी शिक्षा अपने पवित्र और संयमी जीवनद्वारा देनी चाहिये। यदि वाणी और जिह्वा दोनोंका सदुपयोग सीख लें तो घरमें कलह नहीं हो सकेंगे।

भोजन सात्त्विक होना चाहिये, जिसके खानेसे आयु, बल, आरोग्य, जीवनतत्त्व आदिकी वृद्धि हो। जो भोजन जीवनका क्षय करते हैं किंतु खानेमें जिह्वाको स्वादु लगते हैं वही तो दुःख, शोक और रोग लानेवाले होते हैं।

बडे लोगोंका यह अधिकार नहीं है कि वे अपने विचार अपने विवाहित पुत्रों अथवा पुत्रवधुओंपर थेपें। किसी-के विचारोंका बदलना सुगम नहीं। जो मातापिता अपने बालकबालिकाओंकी कच्ची आयुमें योग्य देखभाल नहीं रखते और स्वयं पवित्र रखकर उन्हें अपने साथ रखकर सादा नहीं बनाते, वे अपनीही संतानोंके बडे हो जानेपर उनद्वारा दुःख पाते हैं क्योंकि परस्पर सम्पर्क न रहनेसे उनकी संतानका जीवन उनके अनुकूल नहीं रहता।

गृहमें क्लेशका कारण आरंभमें मातापिताका अपना स्वे-च्छाचारी जीवनही तो है। मातापिता यदि अपने जीवनका अच्छा प्रभाव चाहते हैं तो स्वयं संयमी रहकर अपनी देखरेख इस प्रकार रखें कि बच्चे दबाव न अनुभव करें।

विवाहित जीवन एक यज्ञ है, जिसकी पूर्तिमें गृहस्थभर-को परस्पर सहायक होना चाहिये। विवाहित जीवन एक पवित्र समय है, जिसमें दम्पती यदि चाहें तो एक दूसरेके हृदयको ठीकठीक देखकर आजीवन सुख तथा तृप्तिके साथ रहें और हर प्रकारकी वृद्धिको प्राप्त हों। इस भावकी पूर्तिके लिए मातापिताको पुत्रवधुके साथ व्यवहारमें प्रसन्नता तथा उदारता प्रकट करनी आवश्यक है। जिस पुत्रवधुको हम घरकी रानी कहकर लाते हैं वह बांदी होकर कैसे सुखी रह सकती है?

सासको अपने अधिकार धीरे धीरे छोडने होंगे और

पुत्रवधुको गृहप्रबंधकी जिम्मेदारी सिखानी होगी। घरमें पुत्रवधुका योग्य अधिकार होना चाहिये। हमारे देशमें सास-बहूके संबंध प्रेमके अभीतक कम देखे गए हैं। पुत्रवधुका अधिकार घरमें होना वृद्धिके लिए तथा सुख और शान्ति और आनन्दके लिए परम आवश्यक है।

यह ठीक है कि सासको जब वह वधु होकर आयी थी, अधिकार शीघ्र नहीं मिले थे, और संभवतः उसे वे अधिकार सासके इस लोकसे प्रयाण करनेपरही संभालने पड़े हों किंतु अब जबकि हम योग्य पुत्र-पुत्रियोंके विवाह करने लग गए हैं उन्हें अधिकार अपने सामनेही देकर उनमें घरके प्रति सच्चा स्नेह और निजका संबंध बढने देना चाहिये। इसका परिणाम उत्तम संतान और समस्त जीवनका विकास होगा।

(२) विवाहका आदर्श

प्रत्येक मनुष्यको अपनी कल्पना और स्वभाव-अनुसारही विवाहकी उपयोगिता प्रतीत होती है, इसलिए विवाहका आदर्श गुणकर्म-अनुसार भिन्न देखा गया है।

कई लोगोंके विचारमें विवाह केवल विलासिताकी तृप्तिका हेतु है। ये पत्नीको वस्त्र, आभूषण आदिसे संपन्न रखकर और भोगसामग्री जुटाकर ऐसे भाव दर्शाते रहते हैं जिससे स्त्री इन्द्रियभोगोंसे तृप्त रहती हुई अपने आपको पुरुषकी विलासिता पूर्तिका साधनही समझती रहे। ऐसा प्रायः विद्याहीन रईस गृहस्थोंमें अधिक देखा गया है, किंतु अब अधिकतर सुपठित रईस भी भोग-विलासमें पुराने रईसोंसे कुछ बढेही हैं, घटे नहीं। इनकी शिक्षा इन्हें धर्मके व्यापक रूपको न दिखाकर केवल 'खाओ, पीओ और मौज करो'के भावही पुष्ट करती प्रतीत होती है। ये लोग साधारण लोगोंसे अधिक विलासी देखे गए हैं। ऐसे लोगोंमें प्रायः नाना प्रकारके रोग डेरा जमाए रहते हैं और बेचारे अपने कुत्सित जीवनके कारण सदा सोचमें डूबे रहते हैं और डाक्टरोंका घर भरते हैं।

बहुतसोंको विवाह इसलिए आवश्यक प्रतीत होता है कि बिना स्त्रीके हम बुढा होकर रोटी कहांसे खाएंगे? क्योंकि मातापिता सदा तो जीते नहीं रह सकते। ऐसे लोग रईसोंसे कुछ अच्छे हैं, केवल इसलिए कि वे धनी न होनेसे समय-का बडा भाग रोटी कमानेमें लगाए रहते हैं। उनके यहां स्त्रियां भी घरका काम धंधा करती रहती हैं और पर्याप्त शारीरिक व्यायाम होते रहनेसे उनमें काम-वासना उतनी प्रबल नहीं होती, तथापि ऐसे लोग भी आप उप-योगी और मनोरंजनकी सामग्री न होनेसे और दिनमें आपसमें विचार-विनिमय तथा उन्नतिके लिए यत्न तो एक ओर रहा, सम्पर्कतक बहुत कम होनेसे प्रायः कामलिप्सा-हीको अपने परस्पर मनोरंजनका साधन समझा करते हैं और जब कभी आपसमें रातके समय मेल होता है, तो कामचेष्टाकी पूर्तिही प्रेमसूचक भावकी द्योतक होती है। सुपठित तथा सामर्थ्यवान् न होनेसे मनोरंजनके लिए खेल आदि नहीं प्राप्तकर सकते और सदा दबे हुए और दीन-हीनसे बने रहते हैं। ऐसे गृहस्थोंके जीवन-तत्वका ह्रास देखा गया है, और यहां लोग रोग तथा शोकमें फंसे रहते हैं, और सदा सामर्थ्यहीन अनुभव करते हुए अपनी मामूली आयका अच्छा भाग हकीमों वैद्योंको देते रहते हैं, और वे धूर्त इनकी बेबसीसे लाभ उठाकर इन्हें कभी स्वास्थ्य और विपुलताकी ओर नहीं जाने देते और सदा अपने चुंगलमें रखते हैं। ऐसे लोग सदा आतुर रहते हैं और विवाहके रहस्यको समझनेमें असमर्थ हो जाते हैं। इन्हें विवाहसे घरगृहस्थीके चलते रहनेका तो आराम होता है पर विवाहका असली हेतु नहीं सूझ पाता।

कुछ लोग ऐसे भी हैं जो विवाह कुलवृद्धिके हेतु करते हैं। ये ऊपरके दोनोंसे अच्छे हैं, यदि केवल संतानकी इच्छासेही आपसमें मर्यादानुसार मिलें, और जीवन संयमसे व्यतीत करें, और साथही घरकी आय अच्छी हो, वरना उद्देश्यका निभाना बहुत कठिन हो जाता है। आयकी कमी, खर्चका सामना, और धनका अभाव, सभी प्रकारकी उच्च भावनाओंको दबा देता है। केवल संतान-वृद्धिही मानवजीवनका ध्येय नहीं हो सकता और नाही नारी केवल जनगणनाकी वृद्धिहीका साधन समझी जानी चाहिये। जीवनकला फलेफूले, विकसित हो, घरमें प्रसन्नता हो, सभी जीवन उद्देश्यकी महानतामें सहायक

हो, तभी गृहस्थ सुखमय होता है वरना गृहस्थ-जीवन नीरस हो जाता है, और संतान उत्साहहीन, कायर और भीरु होती है। गृहस्थमें उच्च आदर्श हुए बिना जीवनमें प्रफुल्लता नहीं हो पाती। मनोरंजन और प्रसन्नता आवश्यक हैं, इनके बिना दिल मुरझा जाते हैं। पर मनोरंजन शारीरिक तथा मानसिक उन्नतिका पोषक भी तो हो। कोरा हंसी मजाक मनुष्यको नीचे गिराता है।

बहुतसे ऐसे मनुष्य हैं, जिन्होंने पतिव्रत-धर्मका आदर्श स्त्रीको सुझाकर उसे पुरुषकी सेवाके लिएही समझ रखा है। ये पत्नीव्रतकी ओर तो पर्याप्त ध्यान नहीं देते, पर पत्नीको सेवाके लिएही उपयोगी समझते हैं। ऐसे गृहस्थोंमें स्त्रियें दबी रहती हैं। बेचारी हर प्रकारकी सेवामें तत्पर रहती हैं और अपने अधिकारोंको बिलकुल भूल जाती हैं। सेवामें कामवासनाकी तृप्ति भी शामिल है। ऐसे गृहस्थोंमें स्त्रियां कामकाज, पुरुषोंकी सेवा तथा कामलिप्साकी तृप्तिमें इस प्रकार घुल जाती हैं कि बेसुधही रहती हुई रोगी रहकर अल्पायुमें मृत्यु पाकर अपनी दुःखमयी जीवनीसे छुटकारा पाती हैं।

कुछ पढ़े लिखे लोग ऐसे भी हैं जो विवाहद्वारा एक ऐसा सखा चाहते हैं जो आयुभर उन जैसे विचारोंको रखती हुई परस्पर सुखका साधन बने। ऐसे गृहस्थोंमें यदि आमदनी अच्छी हो तो सुख दिखाई देता है, पर ऐसे लोगोंमें संयमकी मात्रा कम होनेसे जीवन अधिकतर विषयीही देखा गया है; और ये आए दिन डाक्टरोंकी टानिक तथा इन्जेक्शनही करवाते रहते हैं। ऐसे गृहस्थोंमें प्रायः क्लब लाइफ होती है। डैन्सिंग और क्लबके प्रीति-भोजनही उनके मनोरंजनके विशेष साधन होते हैं, ये अंग्रेजोंकी बुराइयोंको अपनाते हैं और प्रायः सिनिमा, सर्कस, क्लब-डिनर आदिमें दम्पतीके जानेमेंही अपना बड़प्पन समझा करते हैं। ऐसे लोगोंकी आत्मशक्तिका न तो विकास होता है और नही किसी अन्य व्यक्ति अथवा बंधु, बांधव, सगे संबंधीके लिएही उनका जीवन उपयोगी होता है, वे तो परस्परके केवल दोनोंके सुखकोही जीवनका लक्ष्य समझा करते हैं। ऐसे दम्पती कुटुम्बमें मिलकर रहना पसन्द नहीं करते और नही पतिके मातापिताको, विशेषकर पतिकी माता अर्थात् अपनी सासको पत्नी दिलसे आदरही करती है। वे बेचारे यदि आही जांय, तो अनुवेलकम् गेस्टके तौरपर कुछ अपनी आंखें ठंडी करके पुत्र और पुत्रवधूके तथा किडीज अर्थात् बच्चोंके दर्शन करके लौट जाते हैं। यह स्वार्थपूर्ण जीवन ऐसे लोगोंकी साधारण भारतीय समाजमें प्रतिष्ठा खो देता है और ये अपने जैसे गृहस्थोंमेंही मिल जुलकर सुख मनाते हैं।

ऐसे मनुष्य हमारे देशमें कम हैं जो विवाहको जीवन-संग्रामकी सफलताके लिए तथा अपनी ऐहिक और पारमार्थिक उन्नति और वृद्धिके लिए आवश्यक समझते हों। ये संयमसे रहते हैं। अपना ऐश्वर्य और वैभव बढ़ाते हुए दोनों इस प्रकार सारे परिवारमें मिलकर गृहस्थका संचालन करते हैं कि सारे गृहस्थका कल्याण हो और वैयक्तिक तथा समष्टिरूपसे परिवारमें हरएककी उन्नति होती रहे। ऐसे गृहस्थ धर्मपूर्वक मर्यादासे जीवन-चर्या करते हुए योग्य संतान उत्पन्न करते हैं और संतानका मर्यादासे पालन-पोषण करते हुए उनकी देखभाल रखते हैं; और यह यत्न करते रहते हैं कि संतान अपनेसे हर प्रकारसे अधिकतर योग्य हो। ये दम्पतीही विवाहके हेतुको समझते हैं और सदा प्रसन्न रहते हैं। ऐसे गृहस्थमें रोग और शोक नहीं होते। ऐसे घरोंमें प्रसन्नता रहती है और सभी हृष्टपुष्ट दिखाई देते हैं। घरमें शान्ति रहती है। आपसमें वैमनस्य नहीं होता और सभी योग्य बनते हैं।

(३) आदर्श-गृहस्थ

किसी देशकी अवस्था उसके निवासियोंके विवाहित जीवनसे जांची जा सकती है। जहां पवित्रता है, वहांही हृदयकी एकता होती है, वहां सन्देह नहीं होता, संशय नहीं होता, परस्पर सब प्रसन्न रहते हैं, और एक दूसरेसे दिल खोलकर बातचीत करके प्रफुल्लित होते हैं। ऐसे गृहस्थमें उत्साह रहता है। मिलकर सैर करना, मिलकर संध्या, पूजा, देवयज्ञ, स्वाध्याय करना, मिलकर परस्पर प्रसन्न होकर भोजन करना, मिलकर मनोरंजन करना आदि उनकी जीवनचर्याकी मर्यादा बन जाती है। ऐसे गृहस्थमें परस्पर हृदय मिले रहते हैं।

गृहस्थजीवनकी भित्ति पवित्रता है। पवित्र मन सदा एक

दूसरेका हित साधन करते हैं, वे ईर्ष्या नहीं करते, उनमें परस्पर द्वेष नहीं होता। बडे छोटोंसे उदारताका बर्ताव करते हैं,छोटे बडोंका आदर सम्मान करते हैं तथा उनकी आज्ञा पालन करते हैं। ऐसा गृहस्थही स्वर्ग है। यहां जीवनका विकास होता है और सभी शक्तियाँ विकसित होती हैं।

जीवनकी पूर्तिके लिए विवाह परमसाधन है। संसारमें सफल जीवन बनानेके लिए विवाहकी उपयोगिता सभी समझदार नरनारी जानते हैं। ऐसे गृहस्थ धन्य हैं जहां सनातन मर्यादाएँ तथा देशकी संस्कृति सुरक्षित हो। जहां पराई संस्कृतिको विवेककी कसौटीपर परखकर अपनाया जाता हो और वह भी अपने देशकी संस्कृतिका रंग चढा कर।

(४) अन्ध-अनुकरण

सजीव जीवनचर्या और अनुकरणमें बहुत अंतर है। सजीव किंवा समझदार गृहस्थोंके घरोंमेंही होती है। आजकल बहुतसे अंग्रेजी शिक्षामें प्रवीण तथा अपनी संस्कृतिसे अनभिज्ञ लोग पश्चिमी सभ्यताकी नकल करके अपना रहन-सहन, अपनी जीवनचर्या, युरोपियन लोगोंकी-सी करके उनका अनुकरण करनाही ध्येय समझने लग गए हैं और इस अंध-परंपराको अंगीकार करते हुए अपने आपको सौभाग्यवान् समझते हैं और अपने बडप्पनमें चूर रहते हैं। ऐसे लोग क्लबों, सिनिमा आदिमें समय व्यय करके रातको बहुत देरमें सोते हैं और दिनमें सूर्य-उदयके कितनीही देर बाद उठते हैं, और फिर चाय, काफी, टोस्ट, बिस्कुट, अंडा आदि लेते हैं। ऐसे लोग शौच जानेतकमें भी अंग्रेजोंकाही अंध अनुकरण करते हैं। लेवेटरी अथवा टायलेटमेंही ब्रुस आदि करके वहांहीसे नहा धोकर अथवा केवल मुंह पूंछकर और बाल संवारकर निकलते हैं। संध्या, स्वाध्याय आदि नित्यकर्म इनकी जीवन-चर्यामें नहीं रहता, अंग्रेजी कपडे पहन कर अर्थात् अपने अर्थोंमें तैय्यार होकर ब्रेकफास्ट लेकर डयूटी (काम) पर जाते हैं और दो घंटे पश्चात् चाय लेकर दोपहरको लंच लेते हैं। तथा टी-टाईम (चायका समय)की प्रतीक्षामें रहते हैं और बीचमें भी आवश्यकतानुसार चायकी प्याली अथवा काफी कई बार पीते रहते हैं। रातमें बहुत देरमें भोजन करते हैं। दूधमें ऐसे लोगोंको रुचि नहीं रहती और कई एकको तो होल मिल्क (शुद्ध दूध) हिन्दुस्तानियोंके मुआफिक पीना असभ्य भी प्रतीत होता है। दूध वैसे भी इनके भोजनमें कम रहता है। अंडे, मांस, चाय आदिकी भरमार रहती है। फल खाते हैं और वे भी अंग्रेजी तरीकेसे। रातको भोजनके साथ मदिरापान करना अथवा सर्दियोंमें लंच तथा टी-टाईममें भी सोडावाटरके साथ व्हिस्की आदि शराब पीना सभ्यताका अंग समझने लगे हैं। कहते हैं ऐसे पानसे स्फूर्ति आती है।

ये अंग्रेजी पढे लिखे किंतु अनुभवहीन तथा विलासी लोग यह नहीं जान सके कि भारतवर्षमें आठ महीने गरमी पडती है और अपना रहन-सहन और भोजन इस देशके जलवायु तथा ऋतु-अनुकूल रखनेसेंही जीवनकी सद्गति है। हमारे देशमें पाश्चात्य सभ्यताने चाय, काफी, सिग्रेट और रेस्टोरेंट तथा होटलके डिनर (खाने) यहां भी जारी कर दिये हैं।

हमें अपने देशकी जलवायु तथा ऋतु-अनुकूल दूध, दही, मक्खन, ताजे फल, शाक, दाल, गेहूं, जौ, चावल आदि सादा सात्विक पुष्टिकारक और स्थिर शक्ति देनेवाला भोजन और पर्याप्त मात्रामें शुद्ध ठंडा जलही चाहिये। हमें चाय, काफी, व्हिस्की आदि कभी अनुकूल नहीं रह सकती।

अनुकरण करनेकी तुच्छ आदतपर संयम करना आवश्यक है। जीवनचर्यामें पाश्चात्य सभ्यताका प्रभाव छा गया है। आयु जीर्ण हो रही है। शिष्टाचार बिगड रहा है। अब तो घरोंमें 'पिताजी' 'माताजी' आदि आदर-सूचक शब्दोंके स्थान 'पापा' 'डॅडी' 'ममा' आदि पराये शब्द आ रहे हैं। यह अवस्था खाते-पीते अंग्रेजीनुमा घरोंकी है, और चूंकि ये लोग सोसाइटी (समाज)में अगुवे होते हैं, इनकी देखा-देखी साधारण लोगोंमें भी ऐसे अनुकरण प्रचलित हो रहे हैं, और थोडे पढे अथवा बेपढे तो इस प्रकार अनुकरण करके उपहासके पात्र बन रहे हैं तथा अपने गृहस्थके जीवनको शुष्क कर रहे हैं।

अंग्रेजी पढोंके लिए पश्चिमी लोगोंके रहना-सहनका अन्ध अनुकरण कोई बाध्य नहीं है, ये लोग स्वयंही बडे

जा रहे हैं। कोई सभ्य अंग्रेज इन्हें अनुकरण करनेके लिए जोर नहीं देता। आजकल पाश्चात्य सभ्यताके अंध अनुकरणसे विलासिता बढ रही है और साथही धृष्टता भी जोरोंपर है। जो लोग इस सभ्यताको अपनाते हैं वे अपनी संस्कृतिसे अनभिज्ञ हैं और उसके गौरव तथा उसकी उपयोगिताको महांध हुए हुए जानना भी नहीं चाहते। इस प्रकार समाजमें एक विचित्र मंडली तैय्यार हो चुकी है जो भारतीय रहे नहीं और अंग्रेज बन नहीं सके। इनमें सभ्यताका आभासमात्र है, वास्तवमें ये लोग स्वार्थी, क्रूर, दंभी, कपटी, छली और हर प्रकारसे बनावटी शिष्टाचार दिखानेवालेही होते हैं। वास्तविक शिष्टता, असली सभ्यता इन्हें छूईही नहीं। ये न तो पाश्चात्य संस्कृतिको समझ सके हैं और नाही भारतीय संस्कृतिके मर्मको जानना चाहते हैं ये केवल पाश्चात्य जीवनकी चकाचौंदपर मोहित होकर तरंगपर उसके बहावकी लहरपर बहे जा रहे हैं। भारतीय सभ्यताकी अवहेलना, आर्य संस्कृतिसे उदासीनता और अंग्रेजी ढंगका अंध अनुकरण यही इनकी शिष्टता है। **भारतमें प्रचलित पाश्चात्य सभ्यताके अंतर्गत विलासिता तथा उच्छृंखलता स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रही हैं। विलासिता और मनमानी जीवनचर्याका परिणाम जीवनका न्हास है। विलासिता जीवन नहीं है, जीवनक्षयसे पहलेकी उत्तेजना की अवस्था है,** यह केवल आभास है, दिखावट है, बनावट है। वास्तविकता तो यह है कि ऐसी विलासिताकी जीवनचर्यासे जीवन कुत्सित आदतोंके कारण कलुषित होता है और ये लोग फैशनके बहावमें विवेकहीन होते हुए जीवनक्षय करते हैं।

आवश्यक है कि जातिमें धंसता हुआ यह संक्रामक रोग शीघ्र हटाया जाय और अपनी सनातन मर्यादाका और भारतीय संस्कृतिका पुनरुद्धार किया जाय। **भारतीय संस्कृति और आर्य सभ्यता पुनः मानव-समाजमें शान्ति तथा सभ्यता लानेमें सहायक होगी।**

(५) विवाहित जीवन जातिकी गतिकी कसौटी

विवाहित-जीवन किसी जातिके उत्थान अथवा पतनकी कसौटी है। यदि विवाहित जीवन शान्तिप्रद और उन्नतिशील हो तो कुलका यश बढ बढता है और परिवारकी हर प्रकारसे वृद्धि होती है। तथा गृहस्थ समृद्ध होता है।

राष्ट्रमें सबसे बडी संख्या उन लोगोंकी होती है, जो विवाहित जीवन व्यतीत कर रहे होते हैं। विवाहित जीवनही समाजकी स्थिति तथा उन्नतिका हेतु है। गृहस्थही सारे समाजका पोषण करते हैं। विद्वान्, वीर, तथा छात्र अथवा अध्यापकगण सभीको गृहस्थही पालते हैं, विश्वप्रेमी संन्यासी भी गृहस्थोपरही निर्भर हैं।

गृहस्थमेंही समाजके लिए भावी नागरिक तथा कार्यकर्ताओंकी आरंभिक शिक्षा होती है। बालक और बालिकाएं मातापिताद्वाराही उचित शिक्षा प्राप्त करके अपने गुण-अनुसार कर्मोंमें लगाए जाते हैं।

विवाहके बादही असली जिम्मेदारी आरंभ होती है। **पत्नी घरकी स्वामिनी है। उसे कन्यारूपमें पितृगृहमेंही योग्य बनाया जाना चाहिये।** कन्याओंकी आजकलकी शिक्षा उन्हें उनकी भावी जिम्मेदारीके योग्य नहीं तैयार कर रही। कन्याएँ पुत्रोंसे जल्दी योग्य हो जाती हैं। उनकी शिक्षा उन्हें योग्य गृहिणी, योग्य पत्नी तथा योग्य माता बनानेके लक्ष्यसेही दी जानी चाहिये। उनमें लडकोंसे स्पर्धाके लिए संसारक्षेत्रमें भेजनेका आयोजन करना बडी भारी भूल है। साधारण नियम यही होना चाहिये कि कन्याको भावी मातृशक्ति समझा जाय और तदनुकूल उसे शिक्षा मिले। विशेष परिस्थिति तथा व्यक्तित्वके अतिरिक्त साधारण तौरपर कन्याओंकी शिक्षा अधिकसे अधिक २० वर्षतक समाप्त हो जानी चाहिये।

विवाहकी आयु बढाकर कमसे कम १८ तथा अधिकसे अधिक २० वर्ष होनी चाहिये। विशेष व्यक्तियोंके लिए २० वर्षसे अधिक आयु भी हो सकती है, किंतु १८से कम आयुकी कन्या तथा २५ से कम आयुके पुत्रका विवाह न होना चाहिये। २० वर्षकी आयुतक कन्याकी उचित शिक्षा हो चुकनी चाहिये, पर विद्याकी रुचि आयुभर रहे ऐसी प्रेरणा मिलनी चाहिये। इस आयुमें पुत्रों तथा कन्याओंको योग्य बनाना समाज तथा शिक्षाविशारदोंका ध्येय होना चाहिये।

देश स्वतंत्रताकी ओर जा रहा है। स्वतंत्रता अवश्य प्राप्त होगी। स्वतंत्रता ली जाएगी, किसीसे उपहारमें नहीं मिलेगी। स्वतंत्रताके साथ प्रत्येक नरनारीकी जिम्मेदारी भी बढेगी। प्रत्येक युवक युवतीको अधिक बल तथा शक्ति और योग्यता प्राप्त करनी चाहिये। पिछले दिनोंसे चली हुई पुरानी रूढियोंको छोडकर, सनातन मर्यादाको फिरसे सुरक्षित करके उसमें विवेक तथा सावधानीसे नवयुगके अनुकूल परिवर्तन करके उसे जीवन-चर्याका अंग बनना चाहिये।

प्रत्येक गृहस्थको यह भली प्रकार जानना चाहिये कि प्रत्येक कन्या भावी माता है और प्रत्येक युवक भावी पिता है, जिसपर देश, जाति और अपने परिवारका सुजीवन निर्भर है। हमें अपने जातीय सामाजिक गीतोंमेंसे विषयवासनाके भाव हटाकर शुद्ध और प्रगतिशील जीवनके भाव उनके स्थानमें रखने चाहिये। भला यज्ञोपवीत-संस्कारितकमें थोडी बचे गाए जाते हैं! जातकर्म, नामकरण, मुंडन-संस्कार आदिमें भी थोडे बचे गानेही शुभसूचक समझे जाते हैं। जिस समाजमें शिशुकालसेही बालकोंपर ऐसे कामोत्तेजक प्रभाव पडते रहेंगे वे कैसे वीर हो सकेंगे? उनमें आर्यत्व कैसे स्थिर हो सकेगा?

गृहस्थियोंके आदर्श ऊंचे हों, कुछ महत्वाकांक्षा हो, जीवनचर्यामें निरंतरकी पवित्रता हो, तब कहीं बलवान् शक्तिशाली तथा वर्चस्वी संतान होगी। अपने दैनिक जीवनमें हमें शक्ति, उत्साह तथा स्फूर्ति-वर्धक भावनाएं, विचार तथा कार्यही सदा करने चाहिये। बालकोंके सामने अथवा उनकी जानकारीमें मातापिता कोई कामचेष्टाकी बातें अथवा क्रियाएं न करें। देखा गया है कि शक्तिशाली और कर्तव्यशील स्त्रीपुरुष विषयी कम होते हैं। दुर्बल लोगही अधिकतर कामी हुआ करते हैं। खेल तथा मनोरंजनके ऐसे साधन प्रचलित करने चाहिये जिनमें लगे हुए बालक तथा युवक पर्याप्त व्यायाम भी करलें तथा उनके भावोंमें काम संबंधी विकार न आने पावें। बालकोंके सामने छल, कपट, झूट, दंभ कभी नहीं होना चाहिये। बालकका हृदय प्रभावशील होता है। शीघ्रही उसपर प्रभाव पडता है जो सदा बना रहता है। बालकोंको सत्य, मान, मर्यादा, सम्मान, वीरत्व आदिके भावोंहीमें पालना चाहिये।

मैं तो यह कहूंगा, कि अब स्त्रियाँ अपने आपको पुरुषोंकी वासनाकी तृप्तिकीही सामग्री न समझें और उचित रीति तथा व्यवहारसे ऐसे पतिदेवोंको उनके हानिकारक कृत्योंसे बचावें, इसमें जाति तथा देशका भला है। स्त्रियोंको अपने अधिकारोंके विषयमें सचेत रहनेकी आवश्यकता है। स्त्रियाँ क्यों केवल दासी बनी रहें, क्यों न वें घरकी रानी बनें, और गृहस्थका सुप्रबंध करें? पुरुषोंने बहुतसे स्त्रियोंके लिए कर्तव्य अपनी मनमानी करवानेके लिएही बनाए प्रतीत होते हैं, वे दासताके बंधन अब शिथिल होकर टूट जाने चाहिये। स्त्री और पुरुषका सहयोग समता तथा परस्पर हितपर अवलंबित है। ऐसा व्यवहार होना चाहिये, जिसमें स्त्रीकी उन्नति, उसका विकास न रुके। परस्पर हित-साधनमें सबकी अबाध उन्नति होगी और सारा गृहस्थ सुखी होगा।

प्रत्येक मनुष्यके लिए आवश्यक है कि विवाहसे पहले विवाहित जीवनकी जिम्मेदारी गृहस्थ जीवनके आदर्श तथा उद्देश्यको भली प्रकार जाने और विवाह हो जानेपर गृहस्थके नियमोंको सुचारु रूपसे निभाए और जीवनको सुफल करे।

वैदिक स्वाध्याय

(ले०- श्री० पं० विश्वनाथजी विद्यालंकार, प्रधान, वेदसंमेलन, हीरक जयन्ती, लाहौर)

भारतकी प्राचीनसे प्राचीन शिक्षापद्धतिमें भी, वेदोंका पढना-पढाना, शिक्षाका एक आवश्यक और प्रधान अंग रहा है। ब्रह्मचर्यकालमें ब्रह्मचारी वेदोंका अध्ययन किया करते थे। ब्रह्मचर्यकालके बाद गृहस्थमें जब ब्रह्मचारी प्रवेश करने। लगते थे उस समय समावर्तन-संस्कारमें गुरुजन अन्तिम उपदेशमें शिक्षा दिया करते थे कि तुमने गृहस्थमें भी जाकर वेदोंका स्वाध्याय जारी रखना। यथा:-

वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति।
सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः।
......स्वाध्याय प्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्॥
(तै० उप० अनु० ११)॥

' कि हे नवस्नातक! गृहस्थमें प्रवेश करके तू सदा सत्य बोलना, धर्माचरण करना, स्वाध्यायसे प्रमाद न करना। स्वाध्याय और प्रवचनसे कभी प्रमाद न करना।' अथर्ववेदमें भी स्नातकोंको दीक्षा देनेकी पद्धतिका बडा सुन्दर वर्णन किया गया है। अथर्ववेद १९।७१।१ मन्त्र इस प्रकार है:-

' स्तुता मया वरदा वेदमाता प्र चोदयन्तां पावमानी द्विजानाम्। आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं द्रविणं ब्रह्मवर्चसम्। मह्यं दत्वा व्रजत ब्रह्मलोकम्॥'

स्नातक होनेवाला ब्रह्मचारी वेद-विद्याको समाप्त कर आचार्यके प्रति कहता है कि:-

' स्तुता मया वरदा वेदमाता '

' हे आचार्यजी! मैंने वरोंके देनेवाली वेदमाताकी सेवा कर ली है '

इसपर आचार्य नवस्नातकोंके प्रति कहता है कि:-

' प्रचोदयन्तां पावमानी द्विजानाम् '

हे नवस्नातको! तुम इस वेदवाणीका प्रचार करो, क्योंकि यह वेदवाणी द्विजोंको पवित्र करनेवाली है।

साथही आचार्य अपनी दक्षिणा भी नवस्नातकोंसे मांगता हुआ कहता है कि:-

' आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं द्रविणं ब्रह्मवर्चसं मह्यं दत्त्वा व्रजत ब्रह्मलोकम्।'

हे नवस्नातको! तुम मुझे ये वचन दक्षिणा रूपमें देकर ब्रह्मलोक × अर्थात् गृहस्थ-लोकमें जाओ कि तुम संसारमें जाकर आयुः सम्बन्धी विद्या, प्राण सम्बन्धी विद्या, प्रजा सम्बन्धी विद्या, पशु सम्बन्धी विद्या, कीर्ति सम्बन्धी विद्या, धन सम्बन्धी विद्या+ का प्रसार करोगे तथा ब्रह्म अर्थात् वेदोंके वर्चस् अर्थात् सब प्रकारके प्रकाशका प्रसार करोगे।

इस मन्त्रमें स्नातक-दीक्षाका कितना प्रभावोत्पादक वर्णन है, तथा गुरुदक्षिणाका कितना ओजस्वी वर्णन है। इस अवसरपर श्री विरजानन्द सरस्वती तथा महर्षि दयानन्दके मध्यमें हुई दीक्षा तथा दक्षिणाका दृश्य स्मरण हो आता है।

इसी प्रकार तैत्तिरीय उपनिषद्के नववें अनुवाकमें भी ऋत, सत्य, तप, दम, शम, आग्न्याधान, अग्निहोत्र, अतिथि-सेवा, मनुष्यमात्रकी सेवा, सन्तान-पालन, सन्तानोत्पादनक्रिया, तथा सन्तानोत्पत्ति आदि श्रेष्ठ आचारोंके साथ साथ स्वाध्याय और प्रवचनपर बडा जोर दिया गया है। श्रेष्ठ आचारोंके स्वरूप-निर्णय, इनकी क्रियापद्धति और अनुष्ठान-प्रकारके सम्बन्धमें, स्वाध्यायद्वारा सदा सहायता मिलती रहती है। नहीं तो लोग कर्मपद्धतिकी अन्धपरम्परामें पड जाते हैं।

यहां स्वाध्यायसे अभिप्राय है वेदोंका पढना। स्वाध्याय

(×) ब्रह्मलोकका अर्थ है वह लोक अर्थात् वह घर जिसमें कि ब्रह्मध्वनि होती रहे।

(+) ये वे विद्याएं हैं जिनका कि अध्ययन ब्रह्मचर्यावस्थामें वेदों द्वारा किया गया है।

शब्दका अर्थ है वेद। इसलिये 'वेदोंके पढने 'को ही 'स्वाध्याय करना' कहते हैं।

महर्षि दयानन्दने भी आर्य-समाजका ध्यान स्वाध्यायकी ओर आकृष्ट किया है। आर्य समाजके १० नियमोंमें तीसरा नियम स्वाध्यायके सम्बन्धमें है। यथाः–

'वेद सब सत्य विद्याओंका पुस्तक है। वेदका पढना-पढाना और सुनना-सुनाना सब आर्योंका परम धर्म है'।

इस नियममें, वैदिक स्वाध्यायको, महर्षि दयानन्दने आर्योंके लिये 'परम धर्म' कहा है। इस परम धर्मके पालनमें कितने सभासद कटिबद्ध हैं, इसका उत्तर वे अपनेसे स्वयं मांगें। वह आर्य सद्गृहस्थ नहीं जिसमें कि स्वाध्यायकी परम्परा विच्छिन्न हो चुकी है। अथर्ववेद १४।१।६४ द्वारा है किः–

ब्रह्मापरं युज्यतां ब्रह्म पूर्वं ब्रह्मान्ततो मध्यतो ब्रह्म सर्वतः। अनाव्याधां देवपुरां प्रपद्य शिवा स्योना पतिलोके वि राज॥

अर्थात् वेद-ध्वनि वैदिक सद्गृहस्थके पश्चिममें हो, वेदकी ध्वनि पूर्वमें हो, वेदकी ध्वनि प्रत्येक कोने कोनेमें हो, गृहके मध्यमें हो, सब ओर हो। ऐसे नगरको, जिसमें कि घर घरमें वैदिक मन्त्रोंकी गूञ्ज होती हैं,— देवपुर कहा गया है।

वैदिक स्वाध्यायके लाभ

ऋषि मुनियोंने वेदोंके स्वाध्यायपर जो इतना जोर दिया है वह सार्थ है, निरर्थक नहीं है। वेदोंके सतत स्वाध्यायसे–

(१) वेदोंके भाव स्वयमेव प्रकट होने लगते हैं। ऋग्वेद १०।७१।४में कहा गया है किः–

उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्। उतो त्वस्मै तन्वं१ वि सस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः॥

अर्थात् कई ऐसे व्यक्ति हैं जो कि पुस्तकमें छपे या लिखे वेदमन्त्रोंको देखते हैं परन्तु उनमें छिपे रहस्योंको नहीं देख पाते, कई ऐसे भी हैं जोकि वेदवाणीका श्रवण तो कानों द्वारा करते हैं परन्तु उस वाणीके सन्देशको नहीं सुन सकते। परन्तु कई ऐसे भी व्यक्ति हैं जिनके प्रति कि वेदवाणी अपने स्वरूपको खोलकर उसका नंगा दर्शन करा देती है। ऐसे सौभाग्यशाली व्यक्ति वे होते हैं जो कि वेदोंका सतत अभ्यास करते हैं और वेदोंके अर्थोंपर सदा मनन करते रहते हैं। इस प्रकार वैदिक स्वाध्यायके द्वारा वेदोंके अर्थ स्वयं प्रकट होने लगते हैं।

इसी प्रकार ऋग्वेद १०।७१।६में और भी कहा है किः–

यस्तित्याज सचिविदं सखायं न तस्य वाच्यपि भागो अस्ति। यदीं शृणोत्यलकं शृणोति नहि प्रवेद सुकृतस्य पन्थाम्॥

इसका भाव यह है कि 'जो व्यक्ति मित्र-को-पहिचानने-वाली तथा मित्ररूप-वेदवाणीका संग-त्याग देता है उसका वेदवाणीमें हिस्सा नहीं रहता। वह जो कुछ वेदवाणी सुनता है, प्रयोजन रहितही सुनता है, वह सुकर्मोंकी पद्धतिको जान नहीं पाता।'

इस मन्त्रमें इस बातपर जोर दिया गया है कि वेदवाणीके साथ सखिभावमें रहना चाहिये, मैत्री करनी चाहिये। क्योंकि वेदवाणीके साथ मैत्री करनेसे वेदवाणी अपने मित्रको पहिचानकर उसके साथ मैत्री करने लगती, और समय पाकर उस मित्रको अपने दिये उपहारों द्वारा निहाल कर देती है, खोल देती है।

इस मन्त्रद्वारा भी स्वाध्यायकी महिमा सूचित होती है।

(२) वेदोंके स्वाध्यायका फल वेदोंमें स्वयं स्पष्ट भी वर्णित किया गया है। यजुर्वेद १९।७८ में लिखा है किः–

वेदेन रूपे व्यपिबत् सुतासुतौ प्रजापतिः।

अर्थात् प्रजाओंके पतिने वेदके द्वारा दो स्वरूपोंका पान कराया है, सुत अर्थात् उत्पन्न-पदार्थों और असुत अर्थात् अनुत्पन्न पदार्थोंके स्वरूपोंका।

इस प्रकार असुत और सुत अर्थात् नित्य और अनित्य,– इन दो प्रकारके पदार्थोंके स्वरूपोंका वर्णन वेदोंमें करके प्रजापतिने इन दोनों स्वरूपोंका परिज्ञान वेदों द्वारा दिया है। वेदोंके स्वाध्याय करनेवालेको इस ज्ञानामृतके पान-का सौभाग्य प्राप्त होता है, अन्यको नहीं।

(३) योगदर्शनमें भी स्वाध्यायके फलका निर्देश किया है। यथाः–

स्वाध्यायादिष्टदेवतासंप्रयोगः॥ (विभूतिपाद)॥

अर्थात् स्वाध्यायसे इष्ट देवताके साथ मेल हो जाता है। वेदोंमें नाना देवताओंका वर्णन है। सूर्य, चन्द्र, पृथिवी, अग्नि, जल, वायु, ओषधि, वनस्पति, ऋतुएं, राजा, प्रजा, शरीर, इन्द्रिय, आत्मा, परमात्मा आदि नाना वस्तुएं,- जिनका कि वेदमन्त्रोंमें वर्णन है,- वेदमन्त्रोंके देवता हैं। जिन मन्त्रोंका हम सतत स्वाध्याय करेंगे उन उन मन्त्रोंके देवता शनैः शनैः अभ्यासवश प्रकट होते चले जायेंगे,- इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं हो सकता।

(४) वेदोंका स्वाध्याय इसलिये भी करना चाहिये चूंकि वेद सर्वज्ञ परमात्माके ज्ञानरूप है। इसलिये वेदोंका ज्ञान सत्य और अभ्रान्त है। भारतके शिरोमणि-दार्शनिक शंकराचार्य इस सम्बन्धमें अपने वेदान्त-भाष्यमें लिखते हैं कि:-

महत ऋग्वेदादेः शास्त्रस्य, अनेकविद्यास्थानोपबृंहितस्य, प्रदीपवत्सर्वार्थावद्योतिनः,सर्वज्ञकल्पस्य योनिः कारणं ब्रह्म। नहीदृशस्य शास्त्रस्य ऋग्वेदादिलक्षणस्य सर्वज्ञगुणान्वितस्य सर्वज्ञादन्यतः सम्भवोऽस्ति॥ (अ० १, पा० १, सू० ३)॥

'अर्थात् ऋग्वेदादि चारों वेद प्रदीपकी न्याई सब पदार्थोंके स्वरूपोंको प्रकट करनेवाले हैं। ये चारों वेद सर्वज्ञ जैसे हैं। चूंकि वेद सर्वज्ञके गुणोंसे अन्वित हैं, इसलिये वेदोंका रचयिता भी सर्वज्ञपरमात्मा है'।

इस लेखसे प्रतीत होता है कि वेदोंके सम्बन्धमें शंकराचार्यजीकी कितनी गौरवास्पद सम्मति है। शंकराचार्य यह मानते हैं कि वेद सर्वज्ञरूप हैं, वेदोंमें सब विद्याओंका वर्णन है और वह भी सत्य, निश्चित और निर्भ्रान्तरूपमें। इसलिये भी वेदोंके स्वाध्यायकी ओर हमें अपनी प्रवृत्ति जागृत करनी चाहिये।

(५) बङ्गालके प्रसिद्ध वैदिक विद्वान् श्री० पं० सत्यव्रतजी सामश्रमी अपनी 'त्रयीटीका' पुस्तकमें लिखते हैं कि:-

वस्तुतः अधियज्ञा आध्यात्मिकाश्च मन्त्राः स्वल्पा एव। आधिदैविका एव बहवः। देवानामग्न्यादीनां स्थानक्रियास्वरूपादिज्ञानमेव देवविज्ञानम्। तत एव भूविद्या-खविद्या-नौविद्यादेः समुद्भवः। सर्वविद्यानिलयश्चैवं विद्यापरपर्यायो वेदः॥' पृ० ३९॥

'अथ हि ज्ञायते निरुक्तकाले यद्यप्यासीदेव विज्ञानचर्चा सायणादिकालतोऽप्यधिकैव, परं न मन्त्रप्रकटनकालतुल्या। अतः तदापि सर्ववेदमन्त्राणां प्रकृतार्थनिर्वचनं स्थितं दुरूहमेवेति॥' पृ० ४९॥

यहां आचार्य सत्यव्रतकी सम्मति यह प्रतीत होती है कि 'वेदोंमें बहुतसे मन्त्र आधिदैविक अर्थोंके प्रतिपादक हैं। देवका अर्थ है अग्नि, वायु, विद्युत्, पृथिवी, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र और तारा आदि पदार्थ। इनके स्थानों, इनकी क्रियाओं और स्वरूपों आदिका ज्ञान आधिदैविक मन्त्रोंमें प्रतिपादित है। इसलिये वेदोंमें भूविद्या, ज्योतिष विद्या तथा नौ-विद्या आदिका वर्णन मिलता है। वस्तुतः वेद सब विद्याओंके खजाने हैं। वेद पद ही दर्शा रहा है कि वेद विद्यामय हैं।'

इसी प्रकार वे लिखते हैं कि 'सायण आचार्य आदि अर्वाचीन वेदभाष्यकारोंके समयमें विज्ञानकी चर्चा न रही थी, इसलिये वे वेदोंके यथार्थ अर्थ नहीं समझ पाए। सायण आदिकी अपेक्षा निरुक्तकारके समय विज्ञानचर्चा अधिक थी, परन्तु वह भी इतनी न थी जितनी कि विज्ञानचर्चा मन्त्रकालमें थी। इसलिये निरुक्तकार भी सब मन्त्रोंके अर्थोंको ठीक ठीक नहीं कह सके'।

इस लेखद्वारा ज्ञात हो रहा है कि सत्यव्रत आचार्यकी सम्मतिमें भी वेदोंमें नाना विद्याएँ विद्यमान हैं। इसलिये वेदोंके स्वाध्यायीको वेदों द्वारा इन विद्याओंका ज्ञान हो सकता है।

(६) वेदोंकी महिमा, प्रसिद्ध प्रोफेसर मैक्समूलरको भी बाधित होकर माननी पड़ी है। वेदोंमें परमात्माके सम्बन्धमें कितने ऊंचे विचार पाए गये हैं-इस सम्बन्धमें 'The six systems of Indian Philosophy'में प्रोफेसर मैक्समूलरके उद्गार बड़े महत्वके हैं। यथाः-

The conviction had been formed that there is but one, one Being, neither male nor female, a Being raised high above all the conditions and limitations of personality and of human nature, and nevertheless the Being,

that was really meant by all such names Indra, Agni, Matarishwan, nay, even by the name of Prajapati, lord of creatures. In fact the Vedic poets had arrived at a conception of the Godhood which was reached once more by some of the Christian philosophers of Alexandria, but which even at present is beyond the reach of many who call themselves Christian.'

इसका यह अभिप्राय है कि 'वेदोंके ऋषियोंको यह विश्वास हो गया था कि एकही और केवल एकही चेतन-सत्ता है जो कि न पुरुषरूप है और न स्त्रीरूप। वह चेतन-सत्ता साकार नहीं। और वही चेतन-सत्ता इन्द्र, अग्नि, मातरिश्वा तथा प्रजापति आदि नामोंसे पुकारी जाती है। यह ठीक है कि वैदिक ऋषियोंने परमात्मा-सम्बन्धी वह उच्च विचार जान लिया था जिस ऊंचाई तक कि अलग्जैण्ड्रियाके कतिपय ईसाई-फिलासफर पीछे एक बार फिर पहुँचे थे, परन्तु जो ऊँचाई कि वर्तमानकालमें भी बहुतसे ईसाईयों-की पहुँचसे बाहर है।'

यह एक सचाई है जो कि वैदिक परमात्माके सम्बन्धमें प्रोफेसर मैक्समूलरकी लेखनीसे अचानक लिखी गई है। ऐसे ऊंचे आध्यात्मिक विचारोंकी प्राप्तिके लिये वेदोंके सतत स्वाध्यायकी आवश्यकता है।

प्रोफेसर मैक्समूलरने यह उद्गार ऋग्वेदके 'नासदीय सूक्त' पर टिप्पणीके रूपमें दिया है। वेदोंके अन्य भागोंमें प्रोफेसर मैक्समूलर परमात्मा-सम्बन्धी ऐसे ऊंचे दार्शनिक विचारोंकी स्थिति नहीं मानता। परन्तु देखिये कि इस सम्बन्धमें आर्षदृष्टिवाले प्राचीन ऋषियोंकी क्या दृष्टि थी। कठ उपनिषद् २।१५ में लिखा है कि:-

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति
तपांसि सर्वाणि च यद्वदान्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्॥

अर्थात् 'सब वेद जिस पदका बार बार वर्णन करते हैं, जिस पदकी प्राप्तिके लिये तपोंका वर्णन किया जाता है, जिस पदको चाहते हुए लोग ब्रह्मचर्य व्रत धारण करते हैं, तेरे प्रति मैं उस पदका वर्णन करता हूँ कि वह 'ओ३म्' है'। इस प्रकार कठ ऋषिकी उद्घोषणा है और यह साक्षात् किया हुआ अनुभव है कि सब वेद ओ३म्का वर्णन करते हैं।

स्वयं भगवान् ऋग्वेद अपने इस रहस्यको निम्न शब्दों द्वारा प्रकट करते हैं कि:—

यस्तं न वेद किमृचा करिष्यति॥

(ऋ० १।१६४।३९)

अर्थात् 'ऋग्वेद पढकर भी जो उस अविनाशी ब्रह्मको प्रत्येक ऋचामें पिरोया हुआ नहीं जानता, वह ऋग्वेदकी ऋचाओंसे क्या करेगा'।

(७) वेदोंमें आध्यात्मिक विद्याके साथ साथ भौतिक विशेषताएँ भी वर्णित हैं-इस सम्बन्धमें दो भारतीय विद्वानोंके विचार और उपस्थित किये जाते हैं। महाराष्ट्रके प्रसिद्ध विद्वान् मिस्टर एन. बी. पावगी अपनी पुस्तक 'The Vedic fathers of Geology' में लिखते हैं कि-

Vedic Rishis had not only superficial Knowledge of, but intimate acguaintance With Geology (भूमिका पृष्ठ ३)

Vedas contain many things not yet known to any body. (भूमिका पृष्ठ ६)

अर्थात् 'वेदोंके ऋषियोंको Geology (भूगर्भविद्याका) केवल ऊपर ऊपरकाही ज्ञान न था, अपितु उन्हें इस विद्याका गहरा परिचय था'।

इसी प्रकार महाराष्ट्रके एक और प्रसिद्ध विद्वान् डाक्टर वी. जी. रेले, एल. एम. एस. एल्. सी. पी. एस. हैं। इन्होंने एक पुस्तक लिखी है '.The vedic gods, as figures of biology' इस पुस्तककी भूमिकामें वे लिखते हैं कि:-

'My acquaintance with the Rigved leads me to believe that the Vedic Rishis were well acquainted with the normal working of the nervous system in the body and that its Physiology lies hidden in the mysteries of the Vedas'(भूमिका पृ.१०)

'My conviction as a whole leads me to believe that the Vedas are books on the Physiology of the nervous system written by different Vedic seers. They describe its structure and function in a language which is full of metaphors taken from the natural Phenomena '. (भूमिका पृ. ११)

' अर्थात् ऋग्वेदके साथ मेरा परिचय मुझे विश्वास दिलाता है कि वेदोंके ऋषि शारीरगत सुषुम्णादण्ड (Nervous system)की कार्य-पद्धतिसे अच्छे प्रकार परिचित थे, और सुषुम्णादण्ड तथा इसके अवयवोंके गुण धर्मोंका विज्ञान वेदोंके रहस्यमय वर्णनोंमें छिपा पडा है' तथा—

'मेरा विश्वास है कि वेद सुषुम्णादण्डकी Physiology का वर्णन करनेवाली पुस्तकें हैं। वेदोंमें सुषुम्णादण्डकी रचना तथा इसके कार्योंका वर्णन है, और वह ऐसी भाषामें है जो कि प्राकृतिक घटनाओंसे ली हुई उपमाओं तथा रूपकोंसे भरी पडी है'।

इस प्रकार आध्यात्मिकज्ञान और प्राकृतिकज्ञान,-इन दोंनो दृष्टियोंसे वेद बडे महत्त्वके हैं। अर्थात् वेदोंमें निःश्रेयस और अभ्युदयके तत्त्वोंका एक सुन्दर मेल मिलता है। इसलिये वेदोंका ज्ञानही संसारके लिये उपकारी तथा सुखदायी है। ऐसे अनुपम वेदोंके प्राप्त रहते भी जो लोग इस वैदिक साहित्यसे विमुख हुए हुए हैं वे कितने दुर्भग हैं,-इसके कहनेकी आवश्यकता नहीं। वेद न केवल आर्य समासदोंके लियेही पढने-पढानेके योग्य है। अपि तु समग्र हिन्दु जातिके लिये, बल्कि समग्र संसारके लिये पढने, पढानेके योग्य हैं।

विशेषकर आर्य-सभासदोंको तो इनका पढना-पढाना तथा सुनना-सुनाना परमधर्म समझना चाहिये। कितने आर्यसभासद् हैं जो इस कामको अपना परमधर्म समझ कर दैनिक रूपमें वेदोंका स्वाध्याय करते है?

मरुत् देवताका परिचय

(ले०- श्री० पं० रामप्रतापशास्त्री, सोहू)

' किरण मरुत् हैं, देव समूहमें रहनेवाले सात मरुतोंका एक गण है, मरुतोंका पुरोडाश सात पात्रोंमें होता है, दैवी प्रजा मरुत् है, वैश्य मरुतोंसे उत्पन्न हैं, उत्तम दान देनेवाले किसान मरुत् हैं, अन्नही मरुत् है, प्राण मरुत् हैं, पत्थर मरुत् हैं, देवोंका पराजयरहित स्थान मरुत् है। मरुत् जलके आश्रयसे रहते हैं, जलही मरुत् हैं। मरुत् वृष्टिके स्वामी हैं। मरुत् इन्द्रके (सैनिक) हैं। जब इन्द्र वृत्रका हनन करता था, तब मरुतोंने खेलते हुए उसका गौरव किया था। '

मरुतोंके शस्त्र।

(कण्वो घौरः। गायत्री)

ये पृषतीभिः ऋष्टिभिः साकं वाशीभिः अञ्जिभिः
अजायन्त स्वभानवः ॥२॥ इहेव शृण्व एषां कशा
हस्तेषु यद्वदान्। नि यामञ्चित्रमृञ्जते ॥३॥
(ऋ० १।३७)

' (ये) जो (पृषतीभिः) चित्र विचित्र (ऋष्टिभिः) भालोंके साथ (वाशीभिः अञ्जिभिः) शस्त्रास्त्रों और भूषणोंके साथ (स्वभानवः) अपनेही प्रकाशसे प्रकाशित होनेवाले मरुत् (अजायन्त) प्रकट हुए हैं। (एषां कशा) इनके चाबुक इनके (हस्तेषु वदान्) हाथोंमें आवाज करते हैं, (यत् इह एव शृण्वे) जो शब्द मैं यहीं सुनता हूं, (यामन् चित्रं नि ऋञ्जते) संग्राममें विचित्र रीतिसे वह चाबुक मरुतोंको शोभित करता है। '

इन मंत्रोंमें बताया गया है कि, मरुतोंके पास भाले, कुल्हाडे, कुठार, आभूषण और चाबूक हैं। इनसे ये मरुत् शोभावान् हुए हैं।

(सोभरिः काण्वः। प्रगाथः=ककुप्+सतो बृहती)

समानमञ्ज्येषां वि भ्राजन्ते रुक्मासो अधि बाहुषु।
दविद्युतत्यृष्टयः॥११॥ त उग्रासो वृषण उग्रबाहवो
नकिष्टनूषु येतिरे। स्थिरा धन्वान्यायुधा रथेषु
वोऽनीकेष्वधि श्रियः ॥ १२ ॥ (ऋ. ८।२०)

'(एषां अञ्जि समानं) इन सब मरुत् वीरोंके आभूषण समान हैं। इनके (ऋष्टयः दविद्युतत्) भाले चमक रहे हैं, (बाहुषु अधि रुक्मासः विभ्राजन्ते) बाहुओंपर सोनेके भूषण चमकते एवं दमकते हैं। (ते) वे (उग्रासः) शूरवीर (उग्रबाहवः) बडे बाहुओंवाले (वृषणः) सुखकी वर्षा करनेवाले, (तनूषु) अपने शरीरके विषयमें (नकिः येतिरे) कुछ भी यत्न नहीं करते। (वः रथेषु) अपने रथपर (स्थिरा धन्वानि आयुधा) स्थिर धनुष्य और शस्त्र हैं तथा (अनिकेषु अधि श्रियः) सैन्यकी धुरामें विजय निश्चित है। '

इन मंत्रोंमें मरुतोंके शस्त्रों और आभूषणों तथा गुणोंका विस्तृत विवरण है, सो देखनेयोग्य है। भाले, बाहुभूषण और कंठमालाएं आदि तो हैं, परन्तु इनके (रथेषु स्थिरा धन्वानि आयुधा) रथोंमें धनुष्य और स्थिर आयुध हैं। यह वर्णन विशेष महत्वका है। स्थिर धनुष्य और चल धनुष्य ऐसे धनुष्योंके दो भेद हैं। चल धनुष्योंकोही धनुष्य कहते हैं, जो हाथोंमें लेकर इधर उधर वीर ले जा सकते हैं। प्रायः धनुर्धारी वीर इसी धनुष्यका उपयोग करते हैं। इसको हम चल धनुष्य अथवा छोटा धनुष्य कहेंगे। परन्तु इस मंत्रमें मरुतोंके रथोंपर ' स्थिर धनुष्य ' रहते हैं ऐसा भी कहा है। रथोंपर ध्वज-दण्ड खडा रहता है,और उस दण्डके साथ ये धनुष्य बांधे रहते हैं,वे हिलाए नहीं जाते, एकही स्थानपर पक्के किये होते हैं। और ये धनुष्य बडे, प्रचंड होते हैं, और इनपरसे जो बाण फेंके जाते हैं, वे साधारण बाणोंसे दुगने तिगने शक्तिशाली बडे होते हैं। और ये धनुष्य भी बडे होते हैं। और इनकी रस्सी दोनों हाथोंसे खींची जाती है। और इसी-लिये इन्हें सदा रथमेंही 'स्थिर रहनेवाले धनुष्य' कहते हैं। मरुतोंके रथोंकी यह विशेषता है। रथोंमें चलाचल दोनों प्रकारके धनुष्य रहते हैं,और इसी प्रकार अन्यान्य आयुध भी रथोंमें स्थिर रहते हैं।

वे मरुतोंके रथ सुदृढ होते थे, और चार घोडे जोडे जाते थे, अथवा घोडियां (हिरनियां) जंगली रोझ नामक हिरनियां जोती जाती थीं, ऐसा मंत्रोंमें लिखा है। और उन हिरनियोंकी पीठपर घोडेके बच्चे होते हैं, ऐसा विवरण इन वेदमंत्रोंमें पाठक देख सकते हैं। मरुतोंके संघोंका यहां वर्णन है, और आगे भी वर्णन है। ये मरुत् देवता वीर संघसे संयुक्त रहनेवाले हैं, ये सातके संघ निम्न प्रकार हैं, संगठित संघत्वके महत्वसेही स्वत्व प्राप्त करते हैं, देखिये–

○ ○ ○ ○ ○ ○ ○
○ ○ ○ ○ ○ ○ ○
○ ○ ○ ○ ○ ○ ○
○ ○ ○ ○ ○ ○ ○
○ ○ ○ ○ ○ ○ ○
○ ○ ○ ○ ○ ○ ○
○ ○ ○ ○ ○ ○ ○

यहां एक कतारमें सात सैनिक हैं और सैनिकोंकी सात पँक्तियां हैं। यहां वे ७×७ = ४९ मरुद्गण होते हैं। न्यूनसे न्यून सातोंकी एक पँक्ति है। और ऐसी ७ पँक्तियोंका ' मरुत् गण ' अथवा 'मरुतोंका संघ' होता है। इस प्रकार ४९ मरुतोंका एक संघ, अथवा सेनाका छोटेसे छोटा विभाग होता है। और ऐसे ४९ विभागोंकी मरुतोंकी सेनाको ' वाहिनी ' कहते हैं। इस वाहिनीमें ४९×४९ = २४०१ मरुद्गण होंगे। इस तरह यह संख्या सातोंके घातसे अथवा ४९ के घातसे बढती है। छोटीसे छोटी मरुद्वीरोंकी संख्या ७ होती है, और उससे बडी ४९ होती है और उसके पश्चात् २४०१ होती है। और इससे आगे ७ अथवा ४९ के घातसे जितनी भी सेना रखनी होगी उतनी सेना हो सकती है इसकी कल्पना पाठक गण कर सकते हैं। उक्त सैनिक शत्रुको रुलानेवाले, समरमें सुलानेवाले, भुवनोंको हिलानेवाले, अबाध गतिसे बाढकी तरह बढते और चढते चले आनेवाले, अपने शस्त्रास्त्रोंसे शत्रुओंके शिरोंको उतारकर, मारकर, छाटकर डालनेवाले मरुन्महावीर एवं धीर होते हैं।

वीर मरुतोंके शस्त्रों एवं वस्त्रोंका वर्णन

कंधोंपर धरे हुए भालों, एवं गलेकी मालाओंसे देखनेवालोंको सुशोभित होनेवाले, अपने रथोंपर आवश्यक पदार्थोंको रखकर दुर्गम पथोंद्वारा शत्रुके विरुद्ध महायुद्धमें जाते हैं, तब मरुत् बडी शोभा पाते हैं। वीर मरुतोंके शरीरों एवं शिरोंपर सुंदर सुवर्णमय वस्त्र हैं, कंधोंपर शस्त्र हैं, स्त्रियोंके समान शृंगारों, एवं अलंकारों द्वारा चारों ओर सुशोभित होनेवाले मरुन्महावीर होते हैं। देखिये वैदिक प्रमाण—

मरुतोंकी शोभा

(गोतमो राहूगणः। जगती)

प्र ये शुम्भन्ते जनयो न सप्तयो यामन् रुद्रस्य
सूनवः सुदंससः। रोदसी हि मरुतश्चक्रिरे
वृधे मदन्ति वीरा विदथेषु घृष्वयः ॥ १ ॥
गोमातरो यच्छुभयन्ते अञ्जिभिस्तनूषु शुभ्रा
दधिरे विरुक्मतः। बाधन्ते विश्वमभिमातिनमप
वर्त्मान्येषामनु रीयते घृतम् ॥ ३ ॥
वि ये भ्राजन्ते सुमखास ऋष्टिभिः प्रच्यावयन्तो
अच्युता चिदोजसा। मनोजुवो यन्मरुतो रथेष्वा
वृषव्रातासः पृषतीरयुग्ध्वम् ॥ ४ ॥

(ऋ० १।८५)

(ये मरुतः) जो मरुत् (जनयः न) स्त्रियोंके समान (यामन्) बाहर जानेके समय (प्र शुम्भन्ते) विशेष, अलंकार धारण करते हैं। ये मरुत् (रुद्रस्य सूनवः) रुद्रके अर्थात् शत्रुको रुलानेवाले वीरके पुत्र (सुदंससः) उत्तम कर्म करनेवाले और (सप्तयः) शीघ्रगामी हैं। मरुतोंने (रोदसी) द्युलोक तथा भूलोकको (वृधे) अपनी वृद्धिके लिये साधन (चक्रिरे) बनाया, ये (घृष्वयः) शत्रुका घर्षण करनेवाले (वीराः) वीर (विदथेषु) युद्धोंमें (मदन्ति) आनंदित होते हैं।'

'(गो–मातरः) गौको अथवा पृथिवीको माता माननेवाले मरुत् (यत्) जब (अञ्जिभिः शुभयन्ते)अलंकारोंसे सुशोभित होते हैं, तब (तनूषु) वे अपने शरीरोंपर (शुभ्राः विरुक्मतः) तेजस्वी और चमकनेवाले शस्त्र (दधिरे) धारण करते हैं। वे (विश्वं अभिमातिनं) सब शत्रुओंको (अप बाधन्ते) पराभूत करते हैं, प्रतिबन्ध करते हैं। (एषां वर्त्मानि) इनके गमनके मार्गपर (घृतं)

घृतादि भोग्य पदार्थ (अनु रीयते) अनुकूलताके साथ मिलते हैं।' '(ये सुमखासः) जो उत्तम यज्ञ करनेवाले मरुत् (ऋष्टिभिः विभ्राजंते) अपने भालोंसे शोभते हैं। जो (ओजसा) अपने बलके साथ (अच्युता) न हिलनेवालोंको भी (प्रच्यावयन्तो चित्) निश्चयपूर्वक हिला देते हैं। हे मरुतो ! (यत्) जब आप अपने (रथेषु पृषतीः) रथोंको विचित्र रंगोंवाली हिरनियों या घोडियोंकी जोडियोंको जोडते हैं, तब (वृष-व्रातासः) वीर्यवान् समूह करनेवाले आप (मनो-जुवः) मनके समान वेगवान् होते हैं। '

इन मंत्रोंमें कहा है कि मरुत् वीर बडे धीर गंभीर होते हैं, स्त्रियोंके समान गलेमें हारों एवं अलंकारोंसे सजते हैं, शत्रुको घर्षण एवं संघर्षण करते हैं। शत्रुके विरुद्ध महायुद्ध करके आनंदित होते हैं, मातृभूमि एवं गौको माता मानते हैं, भाले एवं बर्छियोंको धारण करते हैं, शत्रुओंको स्थान-भ्रष्ट नष्ट कर देते हैं, अपने बाहुबलसे सुदृढ शत्रुदलको उथल पुथलकर स्थलमें मल देनेवाले मल्लमहावीर हैं। अपने रथोंमें द्रुत गतिसे दौडनेवाले, घोडोंको जोडनेवाले और शत्रुओंके शिरोंको तोडने फोडनेवाले, पराजित करके छोडनेवाले मरुन्महावीर एवं धीर होते हैं।

सैनिक शूरवीर अपनी वेषभूषा, शस्त्रास्त्र, सूट, बूट, साफे आदि सुंदर स्वच्छ, सुडौल, सजावट, बनावट रखनेवाले प्रभावुक होते हैं।

प्रतिबंधरहित गति !

मरुद्वीर दुर्गम पहाडों, दराडों, विकट पथोंमें रथोंको लेकर लक्ष्यपर पहुँच जाते हैं। देखिये मंत्र–

न पर्वता न नद्यो वरन्त वो यत्राचिध्वं मरुतो गच्छथेदु तत्। उत द्यावापृथिवी याथना परि शुभं यातामनु रथा अवृत्सत ॥ ७ ॥ (ऋ. ५।५५)

' हे मरुतो ! (न पर्वता) न पर्वत और (न नद्यः) न नदियां (वः वरन्त) आपके मार्गको प्रतिबंध कर सकते हैं, (यत्र आचिध्वं) जहां जाना चाहते हैं, (तत् गच्छथ इत उ) वहीं आप पहुँच जाते हैं। तुम द्युलोक एवं भूलोकपर पहुँचते हो और (शुभं यातां) शुभ स्थानको पहुँचनेवाले आपके रथ आगे बढते हैं। '

भावार्थ– यहां लिखा है कि पहाडों, एवं दराडों, झाडों, एवं नदीनालों, महासिंधु आदि प्रतिबंधोंको बाधित करते हुए अबाध रूपसे अगाध समुद्रको लांघते और फांदते हुए द्युलोक तथा भूलोकादिमें जहां भी जाना चाहते हैं वहीं द्रुतगतिसे बाढकी तरह बढते और चढते चले जाते हैं, और लक्ष्य स्थानपर पहुँच पाते हैं, इन मरुतोंकी गतिको कोई रोकनेवाली शक्ति एवं युक्ति नहीं है, ये सैनिक स्थिर स्थावर पदार्थोंको तोड देते हैं, वृक्षोंको फाड देते हैं, पहाडोंको फोड देते हैं, प्रतिबन्धोंको उखाड देते हैं।

धूम्रास्त्र प्रयोग !

(ब्रह्मा। त्रिष्टुप्)

असौ या सेना मरुतः परेषां अस्मानैत्यभ्योजसा स्पर्धमाना। तां विध्यत तमसाऽपव्रतेन यथैषामन्यो अन्यं न जानात् ॥ ६ ॥ (अथर्व. ३।१)

' हे मरुतो ! यह जो (परेषां) शत्रुओंकी सेना है, जो (अस्मान्) हमपर स्पर्धा करती हुई, (ओजसा एति अभि) प्रबल वेगसे आ रही है, (तां) उस सेनाको (अपव्रतेन तमसा) घबराहट उत्पन्न करनेवाले तमसास्त्रसे (विध्यत) वेध लो (यथा) जिससे इनमेंसे कोई किसीको (न जानात्) न जान सके। '

यहां धुवांधार अंधकार उत्पन्न करनेवाले शस्त्रास्त्रोंका वर्णन है, इससे एक दूसरेको जाना नहीं जा सकता। यहां ' अपव्रतस तम ' नामक अस्त्रका प्रयोग शत्रुकी सेनाके ऊपर करनेको कहा है। ' अपव्रत 'का अर्थ यह है कि, जिससे कर्तव्याकर्तव्यका ज्ञान नही होता। शत्रुसैन्य घबरा जाता है। और जो नहीं करना चाहिये वही करने लगता है। इस घबराहटसे निश्चय शत्रुकी सेनाका पराभव होता है। 'तमस्' नामक अस्त्र अँधेरा उत्पन्न करनेवाला है, और अपव्रततमस्' यह शत्रुको तहस नहस करनेवाला शस्त्र है। ' तमस् ' तमसास्त्रद्वारा धुआँधार अंधकार अँधाधुन्ध करके चूंधाकर शत्रुदलको दलदलमें या जलमें डालकर छलबलकी चालसे किसी जालमें डालकर पराजित करनेवाले मरुन्महावीर होते हैं। आपद्धर्मके समयही यह कूट नीतिज्ञ–कर्म किया जाता है, और शत्रुके दलको बदलकर परस्पर लडाभिडा देने, संगठनको छिन्न-भिन्न एवं खिन्न कर देनेवाले कूट नीतिज्ञ मरुत् होते हैं।

मरुतोंका सामर्थ्य

(श्यावाश्व आत्रेयः । जगती)

विद्युन्महसो नरो अश्मदिद्यवो वातत्विषो मरुतः पर्वतच्युतः। अब्दया चिन्मुहुरा ह्रादुनीवृतः स्तनयदमा रभसा उदोजसः ॥ ३ ॥ न स जीयते मरुतो न हन्यते न स्रेधति न व्यथते न रिष्यति। नास्य राय उप दस्यन्ति नोतय ऋषिं वा यं राजानं वा सुषूदथ ॥ ७ ॥ नियुत्वन्तो ग्रामजितो यथा नरोऽर्यमणो न मरुतः कवन्धिनः। पिन्वन्त्युत्सं यदिनासो अस्वरन् व्युन्दन्ति पृथिवीं मध्वो अन्धसः ॥ ८ ॥ (ऋ. ५।५४)

'ये (नरः मरुतः) नेता मरुत (विद्युन्महसः) बिजलीके समान महा तेजस्वी, (अश्म-दिद्यवः) उल्काके समान प्रकाशमान् (वात-त्विषः) वायुके समान वेगवान् (पर्वतच्युतः) पर्वतोंको भी स्थानसे भ्रष्ट करनेवाले (अब्दया चित् मुहुः आ) सृष्टिपर सदैव जलवृष्टि करनेकी इच्छा करनेवाले (ह्रादुनीवृतः) बिजलीको प्रेरित करनेवाले, (स्तनयत् अमाः) गर्जनामें भी जिनकी शक्ति प्रकट होती है, ऐसे ये मरुत् (रभसा उत् ओजसः) वेग और सामर्थ्यसे युक्त हैं ।'

'हे मरुतों ! जिस (ऋषिं) ऋषिको (वा यं राजानं वा) अथवा जिस राजाको तुम (सुषूदथ) प्रेरित करते हो वह, (न सः जीयते) पराजित नहीं होता, (न हन्यते) न मारा जाता है, (न स्रेधति) न पीछे हटता है, (न व्यथते) पीडित नहीं होता और (न रिष्यति) नाशको प्राप्त नहीं होता। (अस्य रायः न उपदस्यन्ति) इसके धन क्षीण नहीं होते, (न ऊतयः) न उसकी रक्षाएँ कम होती हैं ।'

'(यथा ग्रामजितः नरः) जैसे नगरको जीतनेवाले नेता लोग गर्वसे चलते हैं । वैसे (नियुत्वतः) घोडोंपर सवार हुए ये मरुत (अर्यमणः कवंधिनः) सूर्यके समान तेजस्वी होकर जल देने लगते हैं । (इनासः) ये स्वामी (यत् अस्वरन्) जब शब्द करते हुए (उत्सं पिन्वन्ति) हौजको जलसे भर देते हैं, तब (मध्वः अन्धसा) मधुर जलसे, (पृथिवीं व्युन्दन्ती) पृथ्वीको भर देते हैं ।' मरुत् विजयी वीर हैं, धीर हैं, अन्न तथा सर्वत्र खान पान अन्न जलके) सम्बन्धमें सुप्रबन्ध रखते हैं, बिजलीके समान तेजस्वान्, उल्काके समान प्रकाशवान्, वायुके समान वेगवान् हैं, जिनकी गर्ज एवं तर्जसे पर्वत भी कर्ज जाते हैं।

मरुतोंके विशेषणोंका विचार ।

अब मरुत्सूक्तोंमें जो विशेषण प्रयुक्त हुए है, उनका विचार करते हैं । ये मरुत् आपसमें एक समान भाई हैं, न इनमें (अज्येष्ठासः) कोई बडा है, न इनमें कोई (अमध्यमासः) मध्यम है, और न इनमें कोई (अकनिष्ठासः) कनिष्ठ है, (अचरमाः) न इनमें कोई नीच है, तथापि गुणोंसे ये (ज्येष्ठासः) श्रेष्ठ हैं, और (वृद्धाः) गुणोंसे ये बडे भी हैं । ये (अन्-आनताः) किसीके सामने नमते भी नहीं हैं । ये उग्रमना वृत्तिसे रहते हैं । ये (सु-जातासः) कुलीन हैं, और ये सब मरुत् आपसमें (भ्रातरः) भाई भाई हैं । ये परस्पर अपनेको भाई कहते हैं । ये जनताके सेवक हैं, (नरः वीराः) ये नेता हैं, वीर हैं, जनताकी (त्रातारः) रक्षा करनेवाले हैं, ये (मानुषासः विश्व-कृष्टयः) मनुष्य हैं, सब मानवही मरुत् हैं, ये (अद्वेषः) किसीका द्वेष नहीं करते। (अमवन्तः) ये बलवान् होते हैं। (घोरवर्पसः) बडे शरीरवाले होते हैं और (पूतदक्षसः) पवित्र कार्योंमें अपने बलका अर्पण करनेवाले होते हैं। (अदाभ्याः) ये कभी दबाए नहीं जा सकते, (अधृष्टासः) कोई इन्हे डराभी नहीं सकता ।

ये मरुत् वीर (अच्युता ओजसा प्रच्यावयंतः) स्वयं अपने स्थानसे भ्रष्ट नहीं होते, परन्तु अपनी शक्तिसे सब शत्रुओंको स्थानभ्रष्ट करते हैं । (गो-मातरः, पृश्नि-मातरः पृश्नेः पुत्राः) गौको माता माननेवाले, भूमिको माता जाननेवाले, मातृभूमिकी सेवा करनेवाले हैं। (गौ-बंधवः) गौके साथ भाई सा बर्ताव करते हैं। (अश्व-युजः) घोडोंको अपने रथोंमें जोतनेवाले होते हैं, तथा (स्वश्वाः) उत्तम घोडोंवाले, (अरुणाश्वाः रोहितः) लाल रंगोंवाले घोडोंको पास रखनेवाले, (पृषतीः) धब्बोंवाले घोडोंसे युक्त, (सुयमाः) शिक्षित घोडोंवाले, (आशवः) त्वरासे दौडनेवाले घोडोंसे युक्त होते हैं। मरुतोंका रथ (हिरण्यरथाः, हिरण्या) सोनेका है, और रथके पहिये भी (हिरण्यचक्राः) सोनेके हैं । ये रथ बडे (सुरथाः) सुंदर हैं, (सुखाः) अंदर बैठनेसे सुख होता है । (विद्युन्मन्तः) बिजलीकी युक्ति इनके रथोंमें हैं। (ऋष्टिमन्तः) सुशस्त्र इनके रथोंपर होते हैं। और इन शस्त्रोंसे ये (रिशादसः) शत्रुका नाश करते हैं, और जनताकी रक्षा करते हैं।

मरुतोंके विशेषणोंका विचार करनेसे इस प्रकार ज्ञान होता है।

स्वरूप

मरुतोंका स्वरूप अध्यात्ममें 'प्राण' है। अधिदैवतमें 'वायु' है और अधिभूत अर्थात् मानवोंमें 'वीर' है। अतः मरुतोंके मंत्रोंमें 'प्राण' 'वायु' और 'वीर'के वर्णन हम देखते हैं।

प्रचंड वायु, आंधी, बादल, मेघ, ओले, वृष्टि आदिका वर्णन मरुतोंके सूक्तोंमें है, परंतु वह इस ढंगसे है कि, जिससे वीरोंकाही वर्णन ज्ञात होवे ऐसा प्रतीत होता है। अध्यात्म, अधिभूत, अधिदैवतमें मिलकर सामान्यतः मरुतोंका वर्णन इन सूक्तोंमें है। इसीलिये 'प्राण' 'वायु' और 'वीर'का वर्णन इन सूक्तोंमें सूक्ष्म दृष्टिसे प्रतीत होता है। पाठक इस प्रकार, इन सूक्तोंका विचार करें, वीरभावका लाभ प्राप्त करें।

मरुतोंके हथियार एवं रथ !

वैदिक मरुतोंके पास भाले, कुठार, तलवार, बाणादि अनेक प्रकारके हथियार होते थे। और वे तलवारादि हथियारके प्रबल प्रहारसे शत्रुओंके शिरोंको उतारकर मार मारकर छार करके रुधिरकी धार बहानेवाले मरुतमहावीर होते थे।

जिस प्रकार अश्वसहित रथका वर्णन है उसी प्रकार अश्वरहित रथका भी वर्णन है। देखिये वेदमंत्र—

अनेनो वो मरुतो यामो अस्त्वनश्वश्चिद् यमजत्यरथीः। अनवसो अनभीशू रजस्तूर्वि रोदसी पथ्या याति साधन्म ॥ (ऋ० ६।६६।७)

'हे वीर मरुतों! यह तुम्हारा रथ (अन्-एनः) बिलकुल निर्दोष है और (अन् अश्वः) इसमें घोडे नहीं जोडे जाते तिसपर भी वह (अजति) चलता है, संचार करता है तथा उसे (अ-रथीः) रथ विद्याको न जाननेवाला, रथमें बैठनेवाला यदि वीर न हो, तो भी अर्थात् एक साधारण सा मनुष्य भी चला सकता है। (अन् अवसः) इसमें किसी पृष्ठ-रक्षककी आवश्यकता नहीं रहती है, (अन् अभीशुः) यह रथ लगाम कशादिसे रहित है। ऐसा यह रथ (रजस्तूः) बडे वेगसे गर्द उडाता हुआ नाना मार्गोंद्वारा चला जाता है। (साधन् याति) अपने अभीष्ट स्थानोंपर पहुँच पाता है।

यह रथ भूमिपथ तथा आकाश मार्गद्वारा गर्द उडाता हुआ द्रुतगतिसे अभीष्ट स्थानपर पहुँचाता है। यह रथ भूलोकसे द्युलोकके मध्य अंतरिक्षकी राहसे जानेवाला वायुयान है।

मरुतोंकी-विद्याविलासिता

सिंहाःऽइव। नानदति। प्रऽचेतसः। पिशाः इव। सुऽपिशः। विश्वऽवेदसः। क्षपः। जिन्वन्तः। पृषतीभिः। ऋष्टिऽभिः। सम्। इत्। स अबाधः। शवसा। अहिऽमन्यवः ॥८॥ (ऋ० १।६४)

'(प्र-चेतसः) ये उत्कृष्ट ज्ञानी वीर (सिंहाः इव) सिंहोंके समान (नानदति) गर्जना करते हैं। (पिशाः इव सु-पिशः) आभूषणोंसे युक्त पुरुषोंकी तरह सुहानेवाले, (विश्व-वेदसः) सब धनोंसे युक्त होकर (क्षपः) शत्रुदलकी धज्जियाँ उडानेवाले, (जिन्वन्तः) जनताको संतुष्ट एवं पुष्ट करनेवाले, (शवसा अ- हि- मन्यवः) बलयुक्त होनेके कारण जिनका उत्साह घट नहीं जाता, ऐसे वे वीर (पृषतीभिः) धब्बेवाली घोडियोंके साथ और (ऋष्टिभिः) हथियारोंके साथ, (स-बाधः) पीडित जनताकी ओर उसकी रक्षा करनेके लिये (सं इत्) तुरन्त इकट्ठे होकर चले जाते हैं।

भावार्थ- ये ज्ञानी वीर शेरकी तरह दहाडते और दौडते हुए, शत्रुको पछाडते और फाडते हुए, नाडको उखाडते और झाडते हुए, विजयकी ओर बढते और चढते हुए, दीख पडते हैं। अपने असीम बलसे शत्रुदलको मृत्युमें बदल देते हैं, अत्याचारियों, एवं अनार्यों, आततायियों, तथा अन्यायियोंको अकाल मृत्युके गालमें डाल देनेवाले क्षत्रिय मरुतमहावीर होते हैं।

शत्रु-दलसे युद्ध

युवानो रुद्रा अजरा अभोग्घनो ववक्षुरध्रिगावः पर्वताइव। दृळ्हा चिद्विश्वा भुवनानि पार्थिवा प्र च्यावयन्ति दिव्यानि मज्मना॥३॥ (ऋ० १।६४)

अर्थ— (युवानः) युवक—दशामें रहनेवाले (अ-जराः) बुढापेसे अछूत (अ-भोक्-हनः) अनुदार कृपणोंको दूर करनेवाले, (अध्रि-गावः) आगे बढनेवाले (पर्वताः इव) पहाडोंकी नाईं अपने स्थानपर अटल रूपसे खडे रहनेवाले, (रुद्राः) शत्रुओंको रुलानेवाले, ये वीर लोगोंको सहायता (ववक्षुः) पहुँचाते हैं; (पार्थिवा) पृथ्वीपर पाए जानेवाले, तथा (दिव्यानि) द्युलोकमें विद्यमान् (विश्वा भुवनानि) सभी लोक (दृळ्हा चित्) कितने भी स्थिर हों, तो भी उन्हें ये (मज्मना) अपने बलसे (प्र च्यावयन्ति) अपदस्थ कर देते हैं, विचलित कर डालते हैं।

भावार्थ- सदैव नवयुवकोंके समान जवान बने रहनेवाले, नवीन उमंगों, रंगों एवं सुढंगोंमें दिखाई देनेवाले, कंजूस तथा मक्खीचूस स्वार्थी मानवोंको अपने समीप न रहने देनेवाले, किसी भी रुकावटसे न रुकने और न झुकनेवाले, प्रतिपल अटल, अविचल रूपसे आगे बढने और चढनेवाले, पर्वतकी तरह अपनी जगहपर दृढ प्रतिज्ञ होकर अडे खडे रहनेवाले, शत्रु-दलको पददलित विचलित कर देनेवाले, समस्त जनताको सज्जनतासे सहायता देनेवाले, अपने बलोंसे शत्रुके दलोंको दहलाने, हिलाने, रुलाने, समरमें झुकानेवाले, जोश, रोष, जोशके साथ होशमें रहकर शत्रुके वंशको विध्वंस एवं तहस नहस, नष्ट भ्रष्ट करते चले जानेवाले, मरुत् वीर जब संपूर्ण शक्ति लगाकर लडने और परस्पर भिडने लगते हैं, तब शस्त्रास्त्रोंसे शिर एवं धड धडाधड धराधामपर पडने लगते हैं। और शत्रुकी सेनामें गीदडोंकी तरह भगदड पड जाती है। ऐसे क्षत्रिय मरुत् महावीर थे, जिनका मरुद्देवताके नामसे दैवत-संहिता-ग्रंथमें वर्णन है।

बलवान् मरुत्

स्वधामनु श्रियं नरो महि त्वेषा अमवन्तो वृषप्सवः।
वहन्ते अह्रुतप्सवः ॥ ७ ॥ गोभिर्वाणो अज्यते
सोभरीणां रथे कोशे हिरण्यये ॥८॥ [मरुत् ८८-८९]

' (त्वेषाः) तेजस्वी, (अमवन्तः) बलवान्, (वृषप्सवः) बैल जैसे हृष्टपुष्ट तथा (अ-ह्रुत-प्सवः) सरल स्वभाववाले, (नरः) नेताके नाते वीर, (स्व-धां-अनु) अपनी धारक शक्तिके अनुकूल अपनी (श्रियं महि) शोभा एवं आभाको अत्यधिक मात्रामें (वहन्ति) बढाते हैं।

भावार्थ- तेज ओजयुक्त, हृष्ट, पुष्ट, बलिष्ठ, श्रेष्ठ, सरल सबल, निर्मल स्वभाववाले, पवित्र जीवन-चरित्र, सुपात्र, सुमित्रतादि गुण धारण करनेवाले, शोभा एवं आभा, चमक, दमक धारण करनेवाले मरुत्महावीर होते हैं।

समर्थ मरुत्

प्र वेपयन्ति पर्वतान् वि विञ्चन्ति वनस्पतीन्।
प्रो आरत मरुतो दुर्मदा इव देवासः सर्वया
विशा ॥१॥ (दै० मरुत ४०)

'हे (देवासः मरुतः) वीर मरुतो ! (दुर्मदाः इव) बलके कारण मतवाले हुए लोगोंके समान तुम्हारे वीर (पर्वतान् प्र वेपयन्ति) पर्वतोंको भी पददलित एवं प्रचलित कर देते हैं, हिलाहुला देते हैं। और (वनस्पतीन् वि विञ्चन्ति) पेडोंको उखाडकर दूर फेंक देते है। इसलिये तुम (सर्वया विशा) समुची जनताके साथ मिल जुलकर (प्रो आरत) प्रगति करते चलो।

भावार्थ-बल अत्यधिक बढ जानेपर मतवाले बनकर वीर पुरुष शत्रुदलपर भयंकर भीषणाक्रमण, सहर्ष संघर्ष करते है, तब स्वयं पहाडकी तरह सुस्थिर अडे खडे रहकर सबल शत्रुसेनाको भी डराने, डग डगाने एवं भगानेमें समर्थ होते हैं, पराक्रमी मरुत् वीर द्रुत गतिसे दौडकर पहाडोंको भी तोड फोडकर, वृक्षोंको समूल चूल उखाड फाडकर फेंक देते हैं।

शत्रुओंका विध्वंस

नहि वः शत्रुर्विविदे अधि द्यवि न भूम्यां रिशाद-
सः। युष्माकमस्तु तविषी तना युजा रुद्रासो नू
चिदाधृषे ॥ ४ ॥ (दै० मरुत् ३८)

'हे (रिश-अदसः) शत्रुको नष्ट करनेवाले वीरों ! (अधि द्यवि) द्युलोकमें तो (वः शत्रुः) तुम्हारा शत्रु (नहि विविदे) अस्तित्वमेंही नहीं पाया जाता है। और (भूम्यां च) भूमंडलपर भी विद्यमान् नहीं है, हे (रुद्रासः) शत्रुको रुलानेवाले वीरों ! (युष्माकं युजा) तुम्हारे

साथ रहते हुए, (आघृषे) शत्रुओंको तहस नहस करनेके लिये मेरी (तविषी) शक्ति (नु चित् तना अस्तु) शीघ्रातिशीघ्र विस्तारशील तथा बढनेवाली हो जाए।

भावार्थ- आर्य वीरोंका यह अनिवार्य कर्तव्य है कि, शत्रुओंके मूल चूलको नष्ट भ्रष्ट कर डालें, रिश्वतखोरों, चोरों, बदमाशों, हिंसाकारोंको पछाडकर उनकी नाकको एवं दाढको उखाडकर और फाड कर फेंक दें, उनके वंशको विध्वंस, तहस, नहस कर डालें। अच्छी प्रकार सिखाये हुए, तलवारके जोरदार प्रहारसे शत्रुओंके शिर उतारकर मार मारकर छार कर देनेवाले क्षत्रिय मरुत्वीरही विजयोपहार धारण किया करते हैं।

अपनी बलवती दहाडोंसे, पहाडोंको गुम्जाने, हिलानेवाले, देशको जगानेवाले, जोरदार बोलसे समस्त भूगोलको डावाँडोल करनेवाले, हाथोंमें हथियार लेकर जोरसे ललकारते, और लाखोंको मारते, विदारते हुए चकना चूरकर धूरमें मिलाते चले जाते हैं, युद्धाग्नि धधकनेपर योद्धा मरुत् बेधडक होकर शत्रुसेनासे धडाधड झडप लेते हैं, धीरता तथा वीरतासे धडोंसे शिर दूर फेंक देते हैं, वेही मरुद्वीर हैं। भारतके साहसी वीरों। आप अपने वैदिक कालके मरुत्वीरों, एवं धीरोंको स्मरण रखते हुए धीरत्व तथा वीरत्वको बढाइये, याद रखिये कि, जो मरनेसे डरता है वही शीघ्र मरता है, परन्तु जो दफन होनेके लिये सिरपर कफन बांधकर शत्रुके विरुद्ध युद्धमें निकल आते हैं तो उन्हें मारनेवाले कोई भी नहीं पाये जाते हैं। अस्तु।

> ईशानकृतो धुनयो रिशादसो वातान् विद्युतस्तविषीभिरक्रत। दुहन्त्यूधर्दिव्यानि धूतयो भूमिं पिन्वन्ति पयसा परिज्रयः ॥५॥ (दै० मरुत् ११९)

'(ईशान-कृतः) स्वामी तथा अधिकारी वर्गके निर्माण करनेवाले, (धुनयः) शत्रुदलको हिलानेवाले, (रिश-अदसः) हिंसामें निरत विरोधियोंका विनाश करनेवाले, (तविषीभिः) अपनी शक्तियोंसे, (वातान्) वायुओंको तथा (विद्युतः) बिजलियोंको, (अक्रत) उत्पन्न करते हैं। (परिज्रयः) चतुर्दिक वेगपूर्वक आक्रमण करनेवाले, तथा (धूतयः) शत्रुसेनाको विकम्पित करनेवाले, ये वीर (दिव्यानि ऊधः) आकाशस्थ मेघोंका (दुहन्ति) दोहन करते हैं, और (भूमिं पयसा पिन्वन्ति) यथेष्ट वर्षाद्वारा भूमिको तृप्त करते हैं।

भावार्थ- राष्ट्रके शासनकी बागडोरको जोरशोरसे हाथमें लेनेवाले, शासकोंके वर्गको स्वर्गमय बनाकर अस्तित्वमें लानेवाले, शत्रुओंको विचलित तथा पददलित करनेवाले, कष्ट देकर नष्ट करनेवाले, शत्रुसैन्यकी जडको उखाडकर और फाडकर फेंक देनेवाले, अपनी शक्तियों और युक्तियोंसे चारों ओर बडे वेगसे शत्रुदलपर भीषणाक्रमणसे नष्ट भ्रष्ट करनेवाले, ये वीर वायु-प्रवाह, विद्युत्-प्रवाह, वर्षाका सृजनकर अर्थात् शत्रुकी सेनापर वृष्टिके ओलोंकी तरह तोपोंके गोलोंकी बडी भारी गोलाबारी जारी रखनेवाले हैं, वेही क्षत्रिय मरुद्वीर होते हैं।

असुरोंकी सेनाको जोरशोरसे ललकारने, मारने, संहारने, और भूमिका भार उतारनेवाले, शत्रुदलके मूलको दलकर धूलमें मिलानेवाले, शत्रुके कटकको डाटने और काटनेमें दृढ होकर मृत्युके घाट उतारकर ढेर लगानेवाले, शत्रुके विरुद्ध महायुद्धमें शरीरको झोंकने, एवं बाढको रोकने, और ताल ठोकने, अपूर्व धीरता तथा वीरताका परिचय देनेवाले, छलबलसे शत्रुदलके दिलको दहलानेवाले अपने महाबलसे सबल दलसे भी सफलता पानेवालेही क्षत्रिय मरुत्महावीर होते हैं।

जो नवयुवक अपने देशकी विशेष उन्नति चाहते हैं, वे नौजवान, देशोत्थानसम्बन्धी व्याख्यान सुनकर प्रसन्न होते हैं और उनके मस्तक चमकने दमकने लग जाते हैं, और वे स्वदेशके लिये मर मिटने तथा कटनेके लिये सदैव तयार खडे रहते हैं, उन्हें धन्यवाद है। ऐसे जीवित हृदय, निर्भय युवकोंवाला देश देरतक पतित नहीं रह सकता। किसी भी देश और जातिके उत्थान एवं पतनका कारण उस देशके नवयुवक होते हैं। वे अपने पूर्वज मरुत् वीरों अथवा रामचंद्र, हनुमान, कृष्णचंद्र, भीष्म, भीम, अर्जुनादि महा शूर वीरों, अटक, अविचल, विलक्षण, विचक्षण, चतुर पुरुषोंके चरण-चिन्होंपर चलकर उन्हें अपना लक्ष्य महादर्श पुरुष मानते हैं, वेही भीषणाक्रमणसे क्षणभरमें रणका पासा बदल देना जानते हैं। वे जिधर भी मुँह कर

देते हैं इभरही शत्रुके व्यूह एवं समूहकी सफाई करते जाते हैं।

मरुत्वीरोंकी सहन-शक्ति

ध्यानमें रहे कि, दो प्रकारका सामर्थ्य वीरोंमें पाया जाता है। जब वीरसैनिक शत्रुदलपर आक्रमण कर देता है, तो उस प्रबलाक्रमणको सहन न कर सकनेके कारण शत्रुसेना विनष्ट हो जाय। इसे 'प्रसह्य' सामर्थ्य कहना चाहिये, और दूसरा भी यह एक सामर्थ्य इस प्रकारका होता है, कि शत्रु चाहे कितनाही प्रबल आक्रमण करे लेकिन अपने स्थानपर अटल, अविचल रूपसे स्थिर रहे, अपने स्थानको न छोड देवे, यह सामर्थ्य 'सह, या सहमान' पदोंसे सूचित किया जाता है। यह भी मरुतोंमें पूर्ण रूपेण विद्यमान् है। देखिये वैदिक प्रमाण-

साह्य ये सन्ति मुष्टिहेव हव्यो विश्वासु पृत्सु होतृषु। वृष्णश्चन्द्रान्न सुश्रवस्तमान् गिरा वन्दस्व मरुतो अह ॥२०॥ (दै० मरुत् १०१)

'(होतृषु) शत्रुको चुनौती देनेवाले (विश्वासु पृत्सु) सभी सैनिकोंमें (हव्यः मुष्टि-हा इव) चुनौती देनेवाले मुष्टियोद्धा मल्लकी नाईं, (सह्याः सन्ति) जो शत्रुदलके भीषणाक्रमणको सहन करनेकी क्षमता रखते हैं, उन (वृष्णः) बलिष्ठ (चन्द्रान्) चन्द्रमाके समान आनंददायक (सुश्रवस्तमान्) निर्मल यशसे युक्त (मरुतः अह) मरुत् वीरोंकीही (गिरा वन्दस्व) सराहना अपनी वाणीसे करो।

भावार्थ-धावा करनेवाले सभी सैनिकोंमें जिस भाँति मुष्टियोद्धा पहलवान् अधिक बलवान् होता है, उसी प्रकार सभी वीर शत्रुदलका प्रबल आक्रमण सहन एवं वहन कर सकें। ऐसे बलिष्ठ आनंदप्रद कीर्तिमान् वीरोंकी प्रशंसा करो।

सैकडों अघटित घटनाओं, आक्रमणोंकी घनघोर घटाओं, अनेक भयंकर दुविधाओं, एवं असुविधाओं, शत्रुके विचित्र धावोंको देखकर जिन्हें घबराहट नहीं होती, आश्चर्य नहीं होता, छटपटाहट नहीं होती, गिडगिडाना, एवं रोना नहीं आता, अपनेको अजर अमर समझकर शान्त स्थिर बने हुए, शत्रुको आडे हाथों लेनेवाले, सैकडों आपत्तियोंका सहन एवं वहन साहसके साथ करनेवाले, भयंकरसे भयंकर समरमें डटकर टक्कर लेनेवाले, शत्रुको चक्करमें डालनेवाले, अपनी जानको हाथकी हथेलीपर रख युद्ध मैदानमें कूद पडनेवाले, देशकी विशेष रक्षा करनेके लिये, मरनेका भय न करनेवाले, शत्रुरूपी राहूको प्रसनेके लिये सहस्र बाहु बनकर समरमें जुटने, कटने, मर मिटनेके लिये सदैव तैयार खडे रहनेवाले, शूर वीर चतुर पुरुषोंके चरण चिन्होंपर चलनेवाले, अपनी सत्य प्रतिज्ञासे एक इंच भी विचलित न होनेवाले, क्षत्रिय धीर एवं सत्त्ववीर होते हैं।

प्रिय नवयुवकों! वही देश विशेष उन्नति किया करता, है, कि जिस देशके उठते हुए नवयुवकोंमें नवीन जीवना, नवीन उत्साह, नवीन जागृति, नवीन स्फूर्ति, नवीन उमंगें उमडती पडती हों, नवीन आशाप्रद लहरें हिलोरें लेती हों। अस्तु।

' तेरी शान्ति, तेरी स्वतंत्रता, तेरी एकता '

(ले० श्री० नलिनीकान्त गुप्त, पाण्डीचेरी)

' हे भगवान् ! हम चाहते हैं तेरी शान्ति, शान्तिकी कोई शून्य मायामूर्त्ति नहीं; चाहते हैं तेरी स्वतंत्रता, स्वतंत्रताकी कोई मायामूर्त्ति नहीं; चाहते हैं तेरी एकता, एकताकी मायामूर्ति मात्र नहीं। एक तेरीही शान्ति, तेरीही स्वतंत्रता, तेरीही एकता उस अंधे बलप्रयोग, उस छल-कपट, उस मिथ्याचारको जीत सकती है, जो अभीतक पृथ्वीपर राज्य कर रहा है।

' हे भगवान् ! तेरी विजयके लिये जिन्होंने वीरकी भाँति युद्ध किया है, कष्ट सहन किया है, वे लोग उस विजयके सच्चे और यथार्थ फलको जगत्में प्रतिष्ठित होते हुए देखें।'

आज भारतमें एकान्त प्रयोजन है शान्तिकी, स्वतंत्रता तथा एकताकी। मनुष्यके लिये येही तीन प्रधान काम्य, साध्य वस्तुएं हैं। आज जिस प्रकारकी अशान्तिसे पृथ्वी भरी हुई है, जिस प्रकारकी उथल-पुथलसे, मंथनसे मनुष्य-जीवन क्षुब्ध, व्यथित हो रहा है, उससे मनुष्यका अन्तरात्मा सचमुचमें शान्तिके लिये उद्ग्रीव, व्याकुल हो रहा है। शान्तिही तो जीवनका आधार है; शान्तिके ऊपरही दृढ और स्थायी वस्तु गढी जा सकती है-चंचलता के ऊपर कुछ भी स्थापित नहीं किया जा सकता, वहां तो केवल ध्वंसकीही शक्ति खेल सकती है।

उसके बाद आज मनुष्यका प्राण चाहता है स्वतंत्रता। मनुष्यका जीवन-व्यक्तिगत, समाजगत, देशगत-जीवन-आज विभिन्न बंधनोंसे जर्जरित हो रहा है। एक देश दूसरे देशके चंगुलमें, एक श्रेणी दूसरी श्रेणीके पैरतले, एक वर्ण दूसरे वर्णके, एकधर्म दूसरे धर्मके, एक जाति दूसरी जातिके अधीन म्रियमाण हो रही है। व्यक्ति-व्यक्तिमें भी वही संबंध है—जिसकी जैसी शक्ति है, राष्ट्रीय या सामाजिक व्यवस्थाके लिये, व्यक्तिगत सुयोग-सामर्थ्यकी बदौलत-एक दूसरेके ऊपर आधिपत्य स्थापित किये हुए है। आज मनुष्यका प्राण इस विधानको मानकर नहीं चलना चाहता। बंधनके अधीन, उसका दासत्वका जीवन अगर निरुपद्रव भी हो तो भी उसे उससे अब तृप्ति नहीं होती-वह चाहता है आत्मप्रतिष्ठा, स्वातंत्र्य, स्वाराज्य, मुक्ति।

स्वतंत्रता भी अन्तिम या चरम वस्तु नहीं है। स्वातंत्र्य स्वेच्छाचारकी ओर ले जा सकता है-उसका अर्थ है संघर्ष, अशान्ति एवं पुनर्बन्धन। इसीलिये आवश्यकता है सभी स्वतंत्र सत्ताओंके समवाय, सम्मेलन, ऐक्यकी। विरोधको पार कर मिलन और सामंजस्यकी ओर जानेका एक आग्रह, प्रचेष्टा आज मनुष्यके अन्दर दिखायी दे रही है। व्यक्ति-व्यक्तिका मिलन ला देता है सामाजिक स्वास्थ्य; और उसी तरह यावतीय गोष्ठियोंका पारस्परिक मिलन समस्त मानव-जातिको स्वस्थता और उत्कर्षका सुयोग प्रदान करता है। समस्त मानवजातिको एक होना होगा-व्यक्ति-व्यक्तिमें, गोष्ठी-गोष्ठीमें कोई विरोध नहीं रहेगा। अवश्यही इस ऐक्यका अर्थ एकाकार नहीं है, व्यष्टि-सत्ताकी खर्वता नहीं है। आत्म-स्वातंत्र्यको, आत्म-माहात्म्यको लुप्त कर शून्यगर्भ एकत्वको प्राप्त करना मानवजातिका उद्देश्य नहीं है, व्यक्ति-जीवनका लक्ष्य भी नहीं है। प्रत्येक व्यष्टि अपने पूर्ण स्वतंत्र स्वाराज्यमें प्रतिष्ठित रहेगा और उसीके साथ-साथ परस्पर एक-दूसरेके साथ संयुक्त, सम्मीलित, एकीभूत होगा। ऐक्य खडा होगा स्वातंत्र्यके ऊपर, स्वातंत्र्य खडा होगा शान्तिके ऊपर। अथवा ऐक्य प्रतिष्ठित होगा स्वातंत्र्यके अन्दर, स्वातंत्र्य प्रतिष्ठित होगा शान्तिके अन्दर।

परन्तु वास्तविक शान्ति क्या है, वास्तविक स्वतंत्रता कहां है—सच्ची एकताही कौनसी चीज है? स्वेच्छासे या जान बूझकर यदि हम भूल समझें या गलत रास्तेपर चलें तो फिर बात अलग है। और वास्तवमें बहुत बार हृदय सरल होनेपर भी, इच्छा-आग्रह होनेपर भी, अधिक तीव्र रूपमें होनेके कारणही, हम भूल समझते हैं, गलत

रास्तेपर चलते हैं। फलस्वरूप हम अपनी बुद्धिके अनुसार, अपनी वासना-प्रेरणाके अनुरूप जिस प्रकारकी शान्ति या स्वतंत्रता या एकता चाहते हैं वह सच्ची शान्ति, स्वतंत्रता या मुक्ति नहीं होती, बल्कि इनका अभिनय मात्र होती है। हम अज्ञानके अन्दर, अहंकार द्वारा चलित होकर जो शान्ति चाहते हैं या पाते हैं वह अधिकसे अधिक 'संधि' अर्थात् पुनर्युद्धका आयोजन मात्र होती है; जिस स्वतंत्रताको चाहते हैं वह बंधनकाही एक दूसरा रूप होती है, एक प्रकारके बंधनसे मुक्ति मिल जाती है किन्तु उससे भी कहीं अधिक बड़े और दृढ़ बंधनमें हम आ पहुंचते हैं—अभी जैसे अंग्रेजोंके कब्जेसे मुक्त होनेका अर्थ हो गया था प्रायः जापानियोंके चंगुलमें आ फंसना, अथवा जैसे 'बुर्जोई' या महाजनीके बंधनसे स्वतंत्रता छीनकर हम आजकल 'बोल्शेविक' या 'प्रोलेटेरियट'की अधीनतामें जानेके लिये उत्सुक हो रहे हैं। उसी तरह ऐक्यकी रचनाका प्रयास कर हम अधिकसे अधिक एक तरहके स्वार्थकी. मित्रताकी सृष्टि करते हैं, जो दूसरे स्वार्थ-संघोंकी विरोधिनी होती है। और यह मित्रता स्वभावतः ही क्षणभंगुर होती है—कारण विभिन्न स्वार्थ कभी बहुत दिनोंतक एक साथ मिल-जुलकर नहीं रह सकते।

ऐसा नहीं, एकताका स्वतंत्रताका, शान्तिका यह सब पार्थिव मर्त्य रूप नहीं, यह सब छल नहीं, बल्कि इन सबका यदि सत्य, सनातन, चिरन्तन, अखण्ड और चिरस्थायी स्वरूप हम देखना चाहें, पाना चाहें तो हमें और भी ऊपर उठना होगा—जितनी दूर संभव उतनी दूर ऊपर उठना होगा। अर्थात् अन्यत्र कहीं नहीं, एकमात्र भगवान्के अन्दरही मिल सकता है इन सबका यथार्थ स्वरूप। भगवान्के अन्दर, भागवत सत्तामें जो शान्ति, जो स्वतंत्रता, जो एकता विद्यमान है, भागवत चेतना जिस अटूट, अकाट्य, विशुद्ध और परिपूर्ण शान्ति, स्वतंत्रता और एकताके द्वारा गठित हुई है, वही होगा हमारा लक्ष्य-उससे कम किसी चीजके द्वारा पृथ्वीकी, मनुष्यकी दुर्दशाका पूर्ण अवसान नहीं होगा। भगवान्के साथ एक होकर, भागवत चेतनासे गठित होकर, भागवत सत्ताके साथ साधर्म्य प्राप्त करना होगा, तभी एकता, स्वतंत्रता और शान्ति होगी हमारी प्रकृतिगत स्वाभाविक वृत्ति।

भगवान्की, भागवत चेतनाकी शान्तिका अर्थ है अचल प्रतिष्ठा, निर्विकार स्थिति—चेतनाकी, सत्ताकी एक ऐसी स्थिर साम्यावस्था जिसे किसी चीजका कोई आघात या स्पर्श या संबंध-संयोग हिला-डुला नहीं सकता, क्षुब्ध और मलिन नहीं बना सकता—जो सर्वदा सब प्रकारसे निष्कम्प, स्वच्छ रहता है। स्वच्छ आत्मस्थताही शान्तिका स्वरूप है। मनुष्य जबतक अपने अन्तर-प्रदेशमें इस दिव्य शान्तिको नहीं प्राप्त कर लेता, तबतक बाहरमें कोई शान्ति—वास्तविक शान्ति-नहीं आ सकती। उसी तरह स्वतंत्रताका अर्थ केवल दूसरेके या बाहरके दबाव या पीडनसे मुक्ति पाना नहीं। असली स्वतंत्रता है सब प्रकारसे निम्नतर चेतनाके बंधनसे मुक्त हो जाना, देह—प्राण—मनके संकीर्ण अहंके बंधनसे मुक्त हो जाना; स्वतंत्रता बृहत्तर, महत्तर प्रसारके अन्दर प्राप्त होती है, जबकि अहं अपनी अहमिकाके घेरेसे बाहर निकलकर खड़ा होता है, भगवान्के दास, सेवक, योद्धाके रूपमें—भागवत चेतनाके अव्यर्थ यंत्र, प्रकाश, केन्द्र विभूतिके रूपमें। इस स्वतंत्रताका अर्थ है अपने अन्दर सबको, प्रत्येकको— व्यक्ति, जीव और वस्तुतकको पाना, प्रत्येकके अन्दर अपनेको पाना, समस्तको भगवान्के अन्दर पाना। इसी परिणतिका नाम है ऐक्य, एकत्व।

किन्तु यहांपर यह कहा जा सकता है कि इस प्रकार एकता, स्वतंत्रता और शान्ति आदर्शकी वस्तु हो सकती है; परन्तु वह अत्यन्त दूरकी, दुर्लभ वस्तु है, वास्तव नहीं। कमसे कम मनुष्यजातिके लिये नहीं है, उसके साधक करोड़ोंमें एक मिलते हैं और यदि व्यक्तिगत रूपसे यह आदर्श प्राप्त करना संभव भी हो तो भी संघ, समाज या जातिके लिये यह संभव नहीं। यह सिद्धान्त यदि ठीक हो तो हमें बाध्य होकर यह कहना पड़ेगा कि मनुष्यजातिका भविष्य नामक कोई वस्तु नहीं—दो चार सच्चे संसार—त्यागी संन्यासियोंके लिये यह आन्तर सिद्धि प्राप्त करना आश्चर्यकी बात न भी हो, पर साधारण मनुष्य, पार्थिव जीवन जिस अंधकारमें है उसी अंधकारमें, बल्कि उससे भी अधिक घने अंधकारमेंही रह जायगा। किन्तु हम इस बातमें विश्वास नहीं करते, हमारी दृष्टि और अनुभूति ऐसी बात नहीं कहती। व्यक्तिके लिये यदि यह बात संभव हो तो फिर समाजके

लिये भी वह संभव होनेके लिये बाध्य है, क्योंकि व्यक्ति केवल विच्छिन्न व्यष्टिही नहीं है, वह समाजकी अभिव्यक्ति है, समाजके अन्दर जो मूक या अंध इच्छा, आस्पृहा वर्तमान रहती है वह प्रायः व्यक्तिके अन्दरही भाषा या दृष्टि प्राप्त करती है, व्यक्तिके अन्दर जो सत्य प्रकट होता है वह समवेत जीवनमें अधिक आसानीसे प्रकट होता है, उसका प्रकट होना अवश्यम्भावी होता है। मनुष्य जो आज एकता, स्वतंत्रता और शान्तिके लिये इतना अधिक उत्कंठित हो रहा है उसका अर्थही है कि वास्तविक एकता, स्वतंत्रता और शान्ति हैं और उन्हें प्राप्त करना असंभव नहीं है। मनुष्य भूल करता है अज्ञानवश; निम्नतर प्रेरणावश, आशु फलके लोभमें वह पथभ्रष्ट हो जाता है, दिग्भ्रान्त हो जाता है।

और एक बात। संभव है कि मनुष्यजातिके लिये समष्टिरूपसे भागवत-चेतनामें उत्तीर्ण होकर भागवत-जीवन प्राप्त करना दूरका आदर्श हो, परन्तु इसी कारण ऐसी भी कोई बात नहीं कि तबतक मनुष्यजातिको असुर, राक्षस या पशु-पिशाचका सहधर्मी बनकर रहना होगा। साधारण मनुष्यके अन्दरही वर्तमान है एक भागवत-स्फुलिंग, उसे बराबर दबाये न रख, उसे सुयोग, सुभीता देना चाहिये और ऐसा करना असंभव नहीं है। करोडोंमें 'एक' जो लोग हैं, नेतृस्थानीय जो लोग हैं, जो पथ-प्रदर्शक हैं उनके अन्दर अन्ततः, ऐसी आशा की जा सकती है कि, वह दिव्य स्फुलिंग दीप्त होकर प्रकट होगा। इसके बाद श्रेष्ठ लोगोंका जैसा आचरण होता है उसीका अनुसरण इतर लोग भी करते हैं। लोकसंग्रहका भार जिनके ऊपर है, उनकी चेतनाको इतनी ऊंचाईपर प्रतिष्ठित होनेकी आवश्यकता है जिसमें भागवत-चेतनाका छन्द, कमसे कम छन्दका प्रभाव उनकी चेतनामें प्रतिफलित हो सके। ऐसा होनेपर हम वास्तविक शान्ति, स्वतंत्रता और एकताकी ओर अग्रेसर हो सकते हैं-उस समय फिर दिग्भ्रान्त छिन्न-भिन्न मेघकी तरह एकदम विनष्टि नहीं होगी, इस सत्यधर्मका स्वल्प भी महत् भयसे परित्राण करेगा।

हुआ दिखाई नहीं देता। फिर भी इतिहास जिन दो चार बातोंको पुष्टि देता है, उनसे उसके राज्यशासनकालकी वस्तुस्थिति कुछ न कुछ प्रकाशित होतीही है। अजमेरमें पृथ्वीराजके पूर्वही एक महान् संस्कृत विद्यालय स्थापित हो चुका था। परन्तु मुहम्मद गोरी उस गौरवशाली विद्यालयको अपनी आँखों देख न सका; इसलिये उसने उस विद्यालयके स्थानपर एक मसजिद बनवा डाली। वही हतभाग्य स्थान आज 'ढाई दिनका झोपडा' इस नामसे पहचाना जाता है।

पृथ्वीराजके दरबारमें चन्द नामका एक ख्यातनामा कवि था। उसने हिन्दीभाषामें 'पृथ्वीराज रासो' नामक महाकाव्यकी रचना की, जिसका कि नायक स्वयं पृथ्वीराज है। हिन्दीभाषामें आदिकविका मान इसी चन्दको दिया जाता है। तोमार राजाओंने जो देहली नगर बसाया था, उसके बाहर और मजबूत चहारदीवारी बांधकर पृथ्वीराजने उस नवीन नगरको 'पृथ्वीपूर' नाम दिया। आज भी उसके कुछ अवशेष 'बड़ी दिल्ली' की नैर्ऋत्य दिशामें यत्रतत्र पाये जाते हैं। जो मीनार आज 'कुतब मीनार' इस नामसे पहचाना जाता है, उसका निर्माता कुतुबुद्दीन नहीं, चौहान राजा हैं। विसलदेव चौहानने वह मीनार बंधवानेको प्रारम्भ किया, और उस प्रचण्ड कार्यको आखरी पृथ्वीराजने पूरा कर डाला। कई विद्वान् संशोधकोंका ऐसा मत है कि उस मीनारकी रचनापरसे तथा उसके आसमन्तमें मिलनेवाली निशानियाँ देखकर वह मीनार विसलदेवने गिजनीके तुर्क राजाओंको पराजित कर उस विजयका स्मारक इस हेतुसे बांधा हुवा प्रतीत होता है। अथवा स्वयं पृथ्वीराजने अन्य किसी उद्देशसे उसे निर्माण कर हिन्दू कारीगरीका नमूना संसारके सम्मुख उपस्थित किया होगा, और कुतुबुद्दीनने देहली लेनेके बाद उसपर मुसलमानी कारीगरीके संस्कार किये होंगे।

(११) धार्मिक आंदोलन

किसी देशके इतिहासका मतलब केवल 'मारपीटका ब्योरेवार कथन' नहीं होता; क्योंकि, केवल युद्ध-वर्णनों तथा राजकीय उथलपुथलके वर्णनोंसे देशके लोगोंके सामाजिक रहन-सहनका ज्ञान नहीं होता। यह सिद्धान्त हिंदुस्थानके इतिहासपर भी लागू है। श्री. के. के. वीर राघवाचारियर अपने 'हिस्टरी ऑफ इंडिया' नामक ग्रंथकी भूमिकामें लिखते हैं: —

'... I learned to repeat the names of the mussalman kings and the dates of their reigns, but knew nothing of the country under their rule. I learned the causes of the Marhatta wars, and the results following them, but I did not understand the prowess of the Marhatta race...I gained nothing from the study fo History!'

अर्थात् 'मैंने मुसलमान बादशाहोंके कार्यकालकी तारीखें रटीं किन्तु उनके अधिकारमें जो देश था उसके विषयमें कुछ न जाना। मराठा युद्धोंके कारणोंको मैंने कंठस्थ किया तथा उनके परिणामोंको भी जान लिया; किन्तु मराठा संगठनके बारेमें मुझे कुछ भी जानकारी न मिली... मैंने इतिहासकी पुस्तक सीखी किन्तु मेरे ज्ञानमें कुछ भी वृद्धि न हुई।' एक विद्वान् ग्रंथकारके विद्यार्थिके नाते ये अनुभव हमारे देशके इतिहास-लेखनका अधूरापन सिद्ध करनेको पर्याप्त हैं।

सम्राट् पृथ्वीराज चौहानके पश्चात् राजकीय क्षेत्रमें हिन्दू करतबके लिए बहुत कम गुंजाइश थी। इसीसे, उस समयके दो तीन सदियोंका इतिहास (राजकीय) देशकी जनताका इतिहास न होकर आक्रमण करना चाहनेवाले विदेशी मुसलमान विजेताओंका इतिहास रहा। हाँ, इतना अवश्य सिद्ध होता है कि जो हिन्दुजाति चन्द्रगुप्त, शंकराचार्य, तथा शिवाजीमहाराजके समान अद्वितीय

महापुरुष पैदा कर सकनेकी क्षमता रखती है, वह किसी हालतमें नष्ट नहीं हो सकती। हाँ, हिन्दुजातिकी जीवन-गंगा किस दिशामें प्रचंड बाढ लेकर बह रही थी इस बारेमें, जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, इतिहास-ग्रंथोंमें आवश्यक जानकारी नहीं पायी जाती। इसीसे भारतीय भाषाओंके ऊँचे साहित्यकी शरण लेनी चाहिये।

हिन्दु-समाज स्वभावसे 'दैवी-संपत्तिवाला' है, जिससे हमारे राजनैतिक, सामाजिक, या साहित्यिक आंदोलनोंपर धर्मकी छाप लगी हुई मालूम पडेगी। बौद्धधर्मके साथ श्रीशंकराचार्यके शान्तिपूर्ण संग्रामके बारेमें हम सातवें अध्यायमें विवेचन कर चुके हैं। इसके बाद लगभग पांचसौ वर्षोंके बाद फिरसे, पहलेजैसा ओजीला धार्मिक आन्दोलन शुरू हुआ। इस आन्दोलनमें भिन्न भिन्न विचारों तथा मतोंके लोगोंने हाथ बँटाया था, जिससे उस आन्दोलनके कई स्वरूप एवं परिणाम दीख पडते हैं। इनमें एक रूप वह पंथ था कि जिसके द्वारा षटपटादि झगडोंमें अर्थात् गूढ दार्शनिक विषयोंमें प्रवेश करना जिन सर्व साधारण लोगोंके लिए असम्भव था, उनके लिए भोले भावसे ईश्वरकी उपासना तथा धर्माचरण बताया गया।

ऐसे लोगोंके लिये सरल प्रांतिक-प्राकृत-भाषाओंमें लिखे ग्रंथोंकी आवश्यकता पैदा हुई। इसीसे परंपराप्राप्त बडे बडे दार्शनिक विषयोंको संस्कृतके समान देववाणीद्वारा कथन करनेवाले कर्मठ पण्डितों और अपनी आत्मस्फूर्तीसे सरल सीधी बातें देशभाषाद्वारा आम जनताको खुले मनसे कहनेवाले साधुसन्तोंमें धार्मिक एवं साहित्यविषयक तीव्र झगडा पैदा होकर उसमें सर्वसाधारणके प्रतिनिधि साधु सन्त-विजयी हुए। रामानुज, कबीर, ज्ञानेश्वर, नामदेव, तुलसीदास, तुकाराम, चैतन्य आदि सभी इस भक्ति-पंथके अगुआ थे। इस पंथमें ब्राह्मणसे लेकर ढेढोंतक, यहाँतक कि कबीर, शेख महम्मद बाबा जैसे कई मुसलमान भी, शामिल थे। और भी एक पंथ था जिसका कहना था कि 'मुसलमानी आक्रमण मात्र धार्मिक तथा साहित्यिक आंदोलनोंसे बंद नहीं होगा, उसके लिये राजकीय स्वातंत्र्य प्रस्थापित करनेका जतन होना चाहिये'। श्रीरामदास, गुरु गोविंदसिंह, मुक्तेश्वर आदि सन्त इस पंथके पृष्ठ पोषक थे। इन भिन्न भिन्न पंथोंके लोगोंकी ईश्वरभक्ति तथा समाज-हित-रक्षाकी लगन तो समानही थी। हाँ, उनके ग्रंथोंसे उनकी विचारगतिकी भिन्नता तथा विशेषता मालूम पडती है।

पंजाबमें सिक्ख तथा महाराष्ट्रमें मराठोंने इस आंदोलनके बाद प्राप्त राजनैतिक जयकी बात छोड दें तब भी केवल धार्मिक तथा साहित्यिक दृष्टिसे हमारे हिन्दुसन्तकवियोंने मुसलमान साधुओंपर अपने आर्य सिद्धान्तों तथा भावोंका असर बहुत गहरा डाला था इसमें संदेह नहीं है।

शेख मुहम्मद महाराष्ट्रमें पांडुरंगके भक्त थे उन्होंने कहा है-

शेखमहम्मद अविन्ध। त्याचे हृदयीं गोविंद॥

अर्थात् मुसलमान होते हुए भी उनके हृदयमें गोविंद रहते हैं। वह महात्मा महाराष्ट्रधर्मके उदात्त तथा विशुद्ध भक्ति-भावसे अभिभूत होकर पंढरपूरके पांडुरंगके भक्त बने और अन्य हिन्दुसन्तोंके साथ 'विठ्ठल' नामकी धुन रटते हुए नाचे। हिन्दुओंकी मूर्तिपूजाका स्पष्टीकरण शेख मुहम्मद बडे सुंदर ढंगसे इस प्रकार करते हैं:-

ओनामा एका खडी आधीं मांडिती घडे।
मग मोडिती पाढे अभ्यासिती॥
तैसे तीर्थ प्रतिमा, ओनाम्याचे घडे।
स्वहिता धडफुडे सेवा संत॥ १॥

अर्थात् अक्षरज्ञान प्रथम शुरु होता है और फिर उनके वाक्य सिखाये जाते हैं और फिर जाकर उन वाक्योंका अर्थ हृदयांकित होता है; अंक एक एक कर सिखाये जाते हैं, फिर गणित और उससे फिर विज्ञान, ठीक इसी तरह तीर्थ और प्रभूकी मूर्तियाँ अक्षरों और अंकोंके पाठोंके समान है जिसमें सन्त सेवासे अपने हितके लिये प्रयत्नशील रहते हैं।

अकबरके दरबारमें 'रहीम' थे। इस मुसलमान कविने संस्कृतभाषामें पुराणोंकी कथाओंका उपयोग दृष्टान्तों तथा उपमाओंके लिये काफी किया है। उदाहरणके तौरपर ये पंक्तियाँ हैं:-

रत्नाकरोऽस्ति सदनं गृहिणी च पद्मा।
किं देयमस्ति भवते जगदीश्वराय॥

(कवि प्रभूसे पूछता है:– रत्नाकर– क्षीरसागर-जिसका बसेरा हो और सब संपत्तिकी अधिष्ठात्री देवी लक्ष्मी जिसकी पत्नी हो ऐसे विष्णुभगवान्‌को मेरे जैसा एक क्षुद्र जीव (सिवा अनन्यभक्तिके) क्या दे सकता है ?)

'ताजबेगम' मुसलमान होते हुए भी श्रीकृष्णके गुणगान बडी मार्मिकतासे यों करती है:-

श्यामला सलोना सिरताज सिर कुल्लेदार।
तेरे नेह दागमें निदाघ व्है दहूंगी मैं ॥
नंदके कुमार कुरबान ताणी सूरत पै।
ताण नाल प्यारे हिन्दुवानी व्है रहूंगी मैं ॥१॥

(मुकुटधारी श्यामसुंदर श्रीकृष्णका दिनरात चिन्तन करनेसे मेरा अन्तःकरण शुद्ध हो जायगा। हे नंदकिशोर कृष्णभगवान् ! तुम्हारी दिव्य छबिपर मैं अपना सब कुछ न्योछापर कर दूँगी और 'हिन्दु' भक्त बनकर तुम्हारे गुणगानमें मस्त रहूँगी।

महात्मा कबीर तो काशीके श्रीरामानन्दके शिष्य होनेका गर्व करते थे। हिन्दु हो या मुसलमान, प्रभूकी भक्तिमें इससे कोई फर्क नहीं आना चाहिये, चाहे जिस तरहसे कोई भक्ति करे। मुसलमानोंपरही प्रभूने कोई खास इनायत नहीं की–इस प्रकार उपदेश उन्होंने दिया है। किन्तु समताका यह सिद्धांत जेतापनके अहंकारसे अभिभूत दिल्लीके बादशाहको क्यों कर पसंद आने लगा ? उस समयके सुलताननें कबीरको इस अपराधमें (!) काशीसे निकाल दिया !

मतलब, कबीर, कमाल, सुलतानअली, रहीम, रसखान आदि मुसलमान महात्माओंकी जीवनियों तथा उनके ग्रंथोंको देखनेसे निश्चय होता है कि मुसलमानोंपर बहुसंख्य हिन्दुओंके प्राचीन एवं ऊँचे आदर्शोंका असर उस समय बहुतही गहरा हो चुका था। एक कवि कहता है:-

दीने मुहम्मदीका बेबाक बेडा।
न जेजोंमें ठेहेरा, न कुलजममें अटका ॥
किये जिसने ते चलके सातो समुन्दर।
वह डूबा वहानेमें गंगाके आखिर ॥ १ ॥

(अर्थात् इस्लाम-धर्मका बेडा निर्भयतासे स्पेनसे चीनतक वेगसे आ रहा था, वह आखिर आर्यसिद्धान्तोंके प्रशांत गंगाके बहावमें डूब गया ।)

(१२) सम्राट् कृष्णदेवराय तुळुव

(खिस्ताब्द १५०९–१५३०)

हिन्दुस्थानके भिन्न भिन्न प्रांतोंमें तथा भिन्न भिन्न कालखण्डोंमें दमकनेवाले कई हिन्दु सम्राटोंकी जीवनियों-को हम अब क्रमसे देख चुके हैं।

ये सब महान् सम्राट् कृष्णा–नदीके उत्तरमें हो चुके हैं। महाभारत–कालसे भी बहुतेरे साम्राज्य पंजाब तथा गंगाकाँठेहीमें बढे हुए दीख पडेंगे। किन्तु अतीव चंचल होनेसे प्रसिद्ध–लक्ष्मी–साम्राज्यलक्ष्मी, अन्यप्रांतोंके समान कर्नाटक–प्रांतमें भी एक समय निवास कर चुकी है। जिस समय उत्तर भारतके बहुतेरे नरेश मुसलमानी सत्ताके भारके नीचे कराह रहे थे, उस समय हिन्दु-संस्कृतिकी रक्षाके हेतु तुंगभद्राके काँठे 'विजयनगरका हिन्दु-साम्राज्य' खडा हुआ था। इस गौरवशील साम्राज्यके अधिपति कृष्णरायकी जीवनीकी झाँकी इस लेखद्वारा पाठकोंको मिल जायगी।

चौदहवीं सदीमें दक्षिण हिंदुस्थानमें देवगिरी, ओरंगल, द्वारसमुद्र और मदुरा-ये चार बडे हिन्दुराज्य थे। जिनमेंसे देवगिरीका राज्य सन १३१२में मलिक काफूर नामक दिल्ली-के सरदारने जीतकर ओरंगल, द्वारसमुद्र तथा मदुराके राज्योंपर भी हमले किये और सीधे रामेश्वरतक इस्लामका चाँद फहराया (सन१३३४ में मुहम्मद तुगलकने कंपिलीके हिन्दुराजाको मारकर उसके ग्यारह बेटोंको मुसलमान बना दिया) मुहम्मद तुगलकने भी आक्रमणकी नीतिपर

चलकर दक्षिणमें हमले कर स्थान स्थानपर सैनिक पडाव बना लिये और मदुरामें तो एक सूबेदार भी नियुक्त कर डाला।

मुसलमानोंके इन हमलोंमें हजारों निरपराध हिन्दु कत्ल हुए, मंदिर लूटे और तोडे गये, हिन्दु नरेश बंदी बने और हजारोंको धर्मभ्रष्ट कर दिया गया। इन अनोखे अत्याचारोंसे हिन्दुओंके मनपर बडा आघात पहुँचा और वे संतप्त हुए। तब द्वारसमुद्रके वीर-बल्लाळ और अनेगुंदीके हरिहरराय तथा बुक्कराय जैसे वीर मिल गये और उन्होंने इस्लामकी जड उत्तरी भारतके समान कर्णाटकमें जम जानेके पूर्वही जोरदार प्रतिकार कर हिन्दु-धर्म-रक्षाके हेतु एक प्रबल हिन्दु राज्य खडा करनेका निश्चय किया। शृंगेरीके श्री विद्यारण्य स्वामीने भी उन्हें आशीष देकर काफी सहायता दी। उन्हीं दिनों सौभाग्यवश मुहम्मद तुगलकके विरुद्ध हर तरफ बलवे शुरू हो गये।

इस अच्छे मौकेपर उन्होंने स. १३३६ में एक सुरक्षित स्थानपर 'विजयनगर' नगर तथा उसके द्वारा संकल्पित हिन्दु साम्राज्यकी नींव डाली। इस साम्राज्यमें चार राजवंशोंने लगभग तीनसौ वर्षोंतक यावनी आक्रमणके सैलावको तुंगभद्राके उत्तर काँठेपर रोक रखा। इन सभी सम्राटोंमें × कृष्णदेवराय तुळुव परम प्रतापी, वैभवशील तथा कीर्तिवान् हो गया। सो, उसकी संक्षिप्त जीवनीको देखें।

सम्राट् 'वीर नरसिंह'के बाद उसका छोटा भाई कृष्णदेवराय स.१५०९ में राजा बना। (एक तेलुगु कविके आधारपर इसका जन्मकाल १४८७ इ. निश्चित हुआ है)। गद्दीपर आनेही दो सालों तक अंतर्गत प्रबंध और राज्यकी दृढतापरही ध्यान दिया। आगे चलकर १५११ में मैसूरके गंगराजपर चढायी की। श्रीरंगपट्टण, उम्मत्तूर आदि स्थानोंको जीत गंगराजको अपना मांडलिक बनाकर उसके पास अपना एक प्रतिनिधि छोड सम्राट् कृष्णराय राजधानी लौट आया। उडीसाके शासक विजयनगरके सीमान्तपर अपना अधिकार प्रस्थापित करना चाहते थे। उनके हलको देख कृष्णरायने उनपर धावा बोल दिया। कई लडाइयोंके बाद उन्हें जीतकर कृष्णरायने अपना मांडलिक बना छोडा। इस विजयके स्मरणार्थ 'पोट्टनुरू' नामक स्थानपर कृष्णरायने अपना एक कीर्तिस्तम्भ खडा किया। फिर मुसलमानोंकी बारी आई। पहले कलबुर्गाके मुसलमान सुलतानोंकी ओर कृष्णरायने ध्यान दिया। उनमेंसे एकको अपनी ओरसे गद्दीपर बिठाकर दोनोंको वह अपने साथ ले गया।

इस मुहीमके बाद १५२० में कृष्णरायने तुंगभद्रा लाँघकर 'रायचूर' दोआबेपर चढाई की। आदिलशाह खबर पातेही वहाँ पहुँच गया; किन्तु कृष्णरायने उसकी सेनाको तितरबितर कर दिया। फिर बिजापूरकी ओर आगे बढ, बहुत संपत्ति पाकर कृष्णराय विजयनगर लौट आया। रायचूर दोआबा जीतनेके कारण उसके राज्यकी सीमा कृष्णानदीतक फैल गयी। इस तरह उसके कार्यकालमें विजयनगरका हिन्दु-साम्राज्य अपने वैभवकी टोंचपर पहुँच गया।

राज्य-प्रबंधकी सुविधाके लिये इस साम्राज्यके छः विभाग-उदयगिरी, पेनुगोंडा, तुळुव आदि-बनाये गये। विभागोंमें नायक, गौड, ओडियर आदि पदोंपर अधिकारी नियुक्त किये जाते थे। सरकारी कर वसूल करने तथा सेनामें भरती करनेका काम उनके जिम्मे था। खर्च बाद कर बचे खेतीकी उपजका छठवाँ भाग करके रूपमें लिया जाता था।

कृष्णरायने खेतीकी उन्नतिमें बहुत ध्यान दिया था। तुंगभद्राकी विख्यात नहर, कोरागल बंधारा तथा सोंडूरके तलावका काम उसीने करवाया। हीरोंकी तथा अन्य खानोंको चलाने, दर्यासे मोती निकालने आदि धंधोंको भी उसने बढावा दिया था। कलिकत, मंगलूर आदि बंदरों द्वारा चीन, मलाया, पेगू, पुर्तगाल आदि देशोंसे उसका साम्राज्य बडी तिजारत करता था। उससे उसे चुंगीमें अत्यधिक धन मिल जाता था। व्यापार बढानेके लिये और बीजापूरकी बादशाहतको आवश्यक हो तब

× हरिहर, बुक्क, देवराय, कृष्णदेवराय, एवं रामराजा विशेषरूपसे कर्तृत्वशील थे, किन्तु जनताको तो केवल रामराजाका नामही मालूम है और वह भी तालिकोटका युद्ध हारनेवाले तथा युद्धमें खेत रहनेवाले अभागे राजाकी दृष्टिसे!

बाह देनेके लिये पुर्तुगालियोंसे कृष्णराय अच्छा सलूक करता था। विजयनगर राजधानी बड़ी सुंदर और विशाल थी। 'निकालो द कोंती' नामक यात्रीके कथन अनुसार उस शहरका फैलाव साठ मीलका था। 'दोमिंगो पाएस' का कथन है कि उस नगरीमें एक लाख मकान थे। इससे मालूम होता है कि जनसंख्या पांच लाखसे ऊपर होगी। ईराणके राजाका प्रतिनिधि अब्दुल रज़ाक कहता है:–

'विजयनगर ऐसा सुंदर और वैभवपूर्ण नगर किसीने कभी देखा न सुना होगा।'

सम्राट् कृष्णराय विद्वान् तथा कलाप्रिय था। उसने 'ज्ञान-चिंतामणि' तथा 'रसमंजरी' नामक संस्कृत-ग्रंथ तथा 'आमुक्तमाल्यदा' नामक तेलुगु ग्रंथ लिखा है। उसकी राजसभामें तिम्मणा, कुमार सरस्वति आदि कई कन्नडिग तथा तामिळ कवि थे। शृंगेरीके जगद्-गुरुने दर्शन तथा संगीतके विषयोंपर कई ग्रंथ लिखे हैं। इन सब बातोंसे उस समयके साहित्य तथा उसके विकासका सबूत मिल जाता है। अत्युत्तम शिल्प तथा नक्काशीका 'विजयनगर' साम्राज्यमें बहुत बोलबोला था।

कृष्णरायने सहस्राम तथा कृष्णस्वामीका मंदिर, विरूपाक्षका प्रचंड गोपुर और हंपीके मिनारे आदि अनेक भव्य एवं सुंदर इमारतोंके काम करवा कर अपना संस्मरण पीछे छोड़ दिया है। एकही चट्टानसे १८ फीट ऊँची नृसिंहकी भव्य मूर्ति खोदकर बनायी गयी है और आज भी उसे देखकर दर्शक दाँतों तले उँगली दबाता है। यशोमंदिरमें भिन्न भिन्न रंगोंसे बनाये चित्र बहुतही दर्शनीय हैं। कृष्णरायने हंपीमें कृष्णपुरम् नामक एक कसबे तथा होस्पेटके पास नागलापूर नामक एक शहरको बसाया था। आज भी उनके खँडहर दिखायी पड़ते हैं।

कृष्णरायके कार्यकालमें 'दोमिंगो पाएस' नामक पुर्तुगाली व्यापारी यहाँ आया था; वह कहता है:– कृष्णराय शूर तथा राजनीतिकुशल और उदार था। प्रजा उसे बहुत प्यार करती थी। उसका शरीर भव्य तथा तेजीला था। उसके सरदारों तथा मांडलिकोंपर उसकी धाक थी।

उस समयके भारतीय नरेशोंमें कृष्णदेवरायका स्थान काफी ऊँचा था। उदयपूरके महाराणा सांगा उसके समकालीन थे। कुछ इतिहासज्ञ इंग्लैंडके राजा हेन्री (अष्टम) से कृष्णरायकी तुलना करते हैं। किन्तु विद्वत्ता तथा धर्म-गुरुओंकी प्रति आदरकी दृष्टिसे वह हेन्रीसे ऊँचा उठता है इसमें शक नहीं। मुगल सम्राट् शहाजहाँके समान दक्षिण-में सम्राट् कृष्णराय एक वैभवशील सम्राट् हो चुका है।

सम्राट् कृष्णदेवरायका स्वर्गवास १५३० में हो गया। उसके संतान न होनेके कारण उसका भाई अच्युतराय राजगद्दीपर बैठा। (कृष्णरायके 'तिरुमल' नामक पुत्र था जो बचपनहीमें मर गया था)

विजयनगरके बहुतेरे सम्राटोंने धर्मरक्षणही अपना विशेष लक्ष्य बनाया था। उन्होंने शैव, वैष्णव, जैन, मुस्लिम तथा ईसाई धर्मोंके सभी लोगोंसे एक जैसा बरताव किया। सम्राट् कृष्णरायने अपने पंथके गुरु व्यासतीर्थ तथा शृंगेरीके शंकराचार्यको अनेक भूमिदान दिये थे। विजयनगरके कुछ राजाओंने अन्यधर्मीय लोगोंको मसजिद या गिरजाघर बाँधनेके लिए आर्थिक सहायता भी दी थी। बहुतेरे राजा प्रजावत्सल तथा अपनी परंपराके अभिमानी होनेसे उनके राजमें प्रजा सुखचैनसे रहती थी। साम्राज्यका अंतर्गत स्थैर्य तथा शान्ति प्रायः ग्राम प्रबंधपर अवलंबित थी। ग्रामसंस्थामें सेनबोवस और शेट्टी मुखिया होते थे और वसूली तथा न्यायके काममें सरकारी कर्मचारियोंको सलाह देते तथा उनकी सहायता करते थे।

साधारणतया माना जाता है कि तुळुव साम्राज्यका अंत रामराजाके कार्यकालमें (इ. १५६५) हुआ। इससे रामराजा अक्षम होनेका आभास मिलता है।

किन्तु उस अंतिम अलगुनी राक्षसतागडीके युद्धके पहले रामराजाके कई पराक्रम तथा मंत्रणाओंपर ध्यान देनेसे उसकी क्षमताका परिचय मिलता है। बाड़गिरी, कल्याणी आदि उसके जीते हुए प्रांतोंके नाम देखनेपर यह सिद्ध होता है कि उसने विजयनगर साम्राज्यकी सीमा कृष्णरायसे स्थापित सीमाके भी आगे पहुँचायी थी; और इस उत्कर्षसे जलनेहीसे सभी मुसलमान शत्रुओंने संगठन कर पानिपत जैसा घनघोर मुकाबला रामराजासे किया था। किन्तु इस 'वज्राघात' को भी पचाकर महाराष्ट्रमें 'श्रीशिव छत्रपति' के अवतारतक विजयनगरने हिंदु सभ्यताको सँवारा था।

(१३) राष्ट्र-पुरुष

तथा विदेशी सुशासनका भेद

अबतक हम बहुतेरे हिन्दुसम्राटोंकी उद्‌बोधक एवं अभिमानके योग्य जीवनियाँ देख चुके हैं और उसके अंगभूत अन्य भी अनेक घटनाओंका भी विचार हो चुका है। अब हम किसी हिंदुसम्राट्‌की जीवनी देनेके पहले भारतमें पैर जमानेकी भरसक कोशिश करनेवाली विदेशी सत्ताने बड़ी चतुरतासे शुरु किये हुए सुराज्यस्थापनाके प्रयोग तथा उस प्रयोगकी 'अंदरकी बात'को भाँपकर उस विदेशी सत्ताका दाँव उलट देनेके हेतु स्वातंत्र्य-प्रिय राष्ट्र-पुरुषोंसे चलाये हुए झगड़ेके बारेमें कुछ विचार करेंगे।

सोलहवीं सदीके प्रारंभतक लगभग तीनसौ वर्षोंमें बाँके पठान आदि मुसलमान शासकोंने अपनी कठोर हुकूमतके नीचे हिन्दुओंको दबेचनेके यत्न कर देखे थे; किन्तु इस देशकी विशालता तथा हिन्दुओंके प्रचंड संख्याबलके कारण वे असफल रहे। मेवाड़के महाराणा तथा विजयनगरके सम्राट्‌से उन्हें बड़े जोरोंका प्रतिकार होता था। साथ साथ मुसलमानोंमें भी कई जमातें थीं जो शासनकी बागडोर हथियानेके लिये चढ़ाऊपरी करती थीं। इन सब बातोंको देखकर अकबर जैसे चतुर बादशाहने अपनी धाक जमाने तथा बनाये रखनेके लिए एक नई नीतिपर अमल किया।

अकबरके इस नये प्रयोगमें राजपूत राजाओंसे जोड़ा हुआ शरीर-सम्बन्ध-विवाह एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। सख्तीकी खुशीसे रिश्तेदार बनाए हुए राजपूत राजाओंको बड़े बड़े दान तथा बादशाही नौकरियाँ देकर उनके क्षात्रतेजका उपयोग कभी अन्य हिन्दुराजाओंके विरुद्ध तो कभी पुराने अफगानोंके खिलाफ अकबरने कर लिया था। इसी तरह प्रजाजनोंको भरमाकर उन्हें उनके पूर्व-वैभव तथा प्राकृतिक हकोंको भुलानेके लिए बनाया हुआ 'दीने-इलाही'का जाल इसी तरहकी एक युक्ति थी। (क्योंकि इस धर्मका पैगंबर अकबर स्वयं था। किन्तु वह खुद 'दीने इलाही' पर ईमान नहीं लाता था) इस अजीब नाटकके धोखेमें आकर बीरबल तथा तानसेन जैसे महान् व्यक्ति अपने धर्मसे हाथ धो बैठे। तानसेनके इस धर्मान्तरसे भारतीय गायन-पद्धतिपर मुसलमानी छाप लगना आसान हो गया। इस अभिनव प्रयोगका तीसरा पहलू था अकबरसे स्थापित शान्ति तथा सुप्रबंध। निर्दयी अफगानोंके सुलतानी शासनसे तंग आयी हुई जनताको अकबरका राजप्रबंध तो एक ईश्वरी देनही मालूम होता था। दूसरे, मुगलबादशाहोंका समरकंद बुखारासे संबंध समूल टूट चुका था। जिससे उनकी परायेपनकी दृष्टि कुछ बदलसी गयी थी। इसका भी असर देश-स्थितिपर अच्छाही हुआ। वे दिल्लीहीमें टिक गये जिससे इस देशकी संपत्तिका बाहर बहनेवाला प्रवाह रुक गया, यह भी एक स्वागताई बात थी। चाहे जो हो, यह प्रबंध और एकछत्र शासन इसी तरह जारी रहा तो कुछ समयके बाद हिन्दु-मुसलमानोंका एक संयुक्त, समर्थ, संपन्न राष्ट्र निर्माण हो जाता।× किन्तु विदेशी

× पंधरहवीं सोलहवीं सदियोंमें कई सुविचारी मुसलमानोंके मनमें हिन्दुभूमि तथा हिन्दुओंके लिए अपनाबा पैदा होने लगा भी था। एकराष्ट्रकी उस भावनासे प्रेरित होकर यदि मुसलीम शासक सर्वसाधारणके भावोंकी रक्षा कर पाते तो क्याही अच्छा होता! 'रसखान'के इन शब्दोंपर गौर कीजिए।

'पत्थर हों तो वही गिरि को जु कियो ब्रज छत्र इन्द्र कारन।
जो खग होउँ बसेरो करौं वही कालिंदी कूल कदंबकी डारन॥

इस कविके मनमें यमुना-तट तथा गोवर्धनपर्वतके बारेमें कितना प्रेम भरा हुआ है। इसी भावनाको और बढ़ावा मिलता तो वह 'मातृभूमि' हीमें अवश्य बदल जाती!

जायसी कहते हैं:— हिन्दूकी तो मुसलमानोंके समान प्रभूकी संतान हैं; इसलिए उनके धर्मकी निन्दा न करो, बल्कि आदर करो।

तिन्ह संतति उपराजा भाँति भाँति कुलीन। हिन्दू तुरक दुनऊ भये अपने अपने दिन॥

शासक भिन्नधर्मी तथा भिन्न सभ्यतावाले लोगोंपर राजकीय सर्वस्व प्राप्त करनेपर गर्व करते हैं और यह गर्व चतुरताके आवरणके नीचे हमेशाके लिए दबकर नहीं रह सकता। वह कब और कैसे फूट पड़ेगा इसका कोई पता नहीं होता।

राणा उदयसिंहको हराकर चित्तौड़ जीतनेपर अकबरने जो कत्लेआम किया और हर चीज तथा राजपूती कला-शिल्पका जो राक्षसी विध्वंसन हुआ उसकी तहमें वही अहंकार, निष्ठुरता तथा पाशविक बलकी शेखीही नजर आती है। औरंगजेबने तो इस बारेमें हद कर दी! अस्तु।

अकबर जैसे धूर्त विदेशी शासकका स्थापित किया हुआ ऐक्य तथा सुराज्यके मायामयी बाजारमें कुछ लोगोंका फँस जाना स्वाभाविक था। 'दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरो वा' कहकर अकबरके आगे भीगी बिल्ली बननेवाले राजपूत राजाओंको भी उनमें शामिल करना चाहिये! वैदिक साहित्यमें इस तरह अपनी असली हालतका भान भुलानेवाले राज्यप्रबंधको उस समयके राष्ट्र-पुरुषोंने 'आसुरी' कहा है। उस आसुरी राजनीतिका यह चिन्ह है कि सचमुच दरिद्रता बढ़ते हुए भी लोग अपनेको सुखी समझते हैं; असलमें ज्ञानकी कुछ भी प्राप्ति न होकर भी लोग अपनेको बड़े सभ्य और विद्वान् मानते हैं।

हाँ, आत्माभिमानी तथा सचेत राष्ट्र-पुरुष इस जालमें फँसनेके बदले उसे तोड़ डालनेके काममें लग जाते हैं। मेवाड़का वीर प्रताप उस समयके ऐसे राष्ट्र-पुरुषोंका अगुआ था। उसे सम्राट् या महाराणाकी उपाधियोंसे भूषित न करते हुए उसे राष्ट्र-पुरुषका महान् पदही शोभा देगा। क्योंकि, उसके पिताके समयमें समूचा देश अकबरने जीत लेनेके कारण उसे अरावलीकी पहाड़ी इलाकोंहीमें रहना पड़ता था। उसी तरह उसे जो राज्यपद मिला था वह उत्तराधिकारी या तलवारके बलके नाते नहीं मिला था, उसके अद्वितीय सद्गुणोंके कारण स्वातंत्र्यप्रिय राजपूतोंने प्रतापके भाईको हटाकर उसे अपना राजा और नेता चुना था।

अब देखें, कि अकबरकी अनेक चालोंका सामना कर और उसके बाद कई घमासान लड़ाइयाँ लड़कर 'प्रताप'ने अपने देशकी स्वाधीनताकी रक्षा कैसे की। पहले, अकबरने राजपूतोंसे रिश्ता जोड़कर (शादी ब्याहद्वारा) उन्हें अपने पृष्ठपोषक बना लेनेकी जो चाल चली थी उसे प्रतापने उन आत्माभिमानशून्य लोगोंको पूरी तरह बहिष्कृत करा कर उलट दिया, जिससे बाँके राजपूत समाजमें उन जोधपुर, जयपुर नरेशोंके बारेमें घृणा पैदा हो गयी और उसी मात्रामें राष्ट्रपुरुष प्रतापसिंहके बारेमें जनताका आदरभाव बढ़ गया। इसीसे बहुतेरे आत्माभिमानी तथा देशाभिमानी राजपूत सरदार प्रतापके अमल झण्डेके नीचे इकट्ठे हो गये।

दूसरे, अकबरने मेवाड़के जिस प्रदेशको हथिया कर नयी राजनीति जारी की थी–अर्थात् उसमें रहनेवाले लोगोंमेंसे, सुख-शांतिके आदी बननेके कारण, आत्माभिमान उठ गया था, उस प्रदेशमें वे न रह सकें इसका पूरा बंदोबस्त किया था। इससे मुगलोंको वहाँसे कर वसूल करनेमें जबरदस्त घाटा उठाना पड़ता था। मुगलसेनाके उपयोगके लिए धन और अनाज तथा रसदका सामान दिल्लीसे लाना पड़ता था। और उसे भी राजपूत छापामार रास्तेमें लूट लेते थे जिससे मुगल-सेना बहुत हैरान हो जाती थी। अकबरको और तंग करनेके लिए 'प्रतापने' सुरत बंदरद्वारा होनेवाले मुगली व्यापारके यातायातके नाकोंपर राजपूत तथा भीलोंकी सहायतासे कब्जा कर रखा था। इस तरह भी मुगल सम्राट्को हानि उठानी पड़ती थी। यहाँ हम प्रत्यक्ष लड़ाइयोंके वर्णन विस्तार-भयसे नहीं देते।

धन्य है स्वाधीनताके लिए संग्राम करनेवाला प्रताप! धन्य है उसका मंत्री भामाशा और जनताका प्रतिनिधि चंद्रावत! धन्य हैं ये राष्ट्र-पुरुष! जो लोग प्रत्यक्षरूपसे इस स्वातंत्र्य-संग्राममें हाथ नहीं बँटा सकते थे वे भी इन राष्ट्र-पुरुषोंका आनंदसे गुण ग्रहण कर उनकी विजयकी कामना करते थे। दिल्लीके दरबारके कवि 'पृथ्वीसिंह' प्रतापको लिखते हैं:—

'... यह दशा सर्वदा नहीं रहेगी। एक दिन समस्त राजपूत जाति प्रतापके चरण चूमेगी। आर्योंको पुनः उन्नतिके शिखरपर पहुँचानेका मान प्रतापही प्राप्त करेंगे......

(१४) श्रीछत्रपति शिवाजी महाराज

(जन्म खिस्ताब्द १६३०—मृत्यु १६८०)

' महापुरुष अपने युगकी प्रवृत्तियोंका प्रतिनिधि है, विचारधाराओंका प्रतिबिंब है। वह युगका जहाँ पुत्र है, वहाँ उसका निर्माता भी होता है।'

—पं. व्यंकटेश नारायण तिवारी

पुणें जिलेके शिवनेरी किलेपर खिस्ताब्द १६३० में शिवाजीका जन्म हुआ। उनके पिताका नाम शहाजी भोसले तथा माताका नाम जीजाबाई था। राजा शहाजीको बिजापूर दरबारसे पुणें प्रांतमें जागीर मिली थी। शहाजी बिजापूर दरबारके लिए कर्णाटककी मुहीममें प्रायः व्यस्त रहनेके कारण, उन्होंने दादाजी कोण्डदेव नामक एक विद्वान्को अपनी जमींदारीकी देखभाल करनेके लिए पुणेंमें रखा था। शिवाजी तथा माता जीजाबाई पुणेंहीमें रहते थे। दादाजीने जमींदारीका बढ़िया प्रबंध कर आमदनी बढ़ायी। साथ साथ शिवाजीको घुड़सवारी, फरीगदगा, निशानबाजी आदि शिक्षा-जो सरदारोंको मिलनी चाहिये-दी। जमींदारीका कामकाज तथा न्यायदान आदि कामोंमें अपने पास बिठाकर प्रत्यक्षतः हरबातसे वाकिफ कर दिया। घरमें माता जीजाबाई शिवाजीको रामायण तथा महाभारतकी कहानियाँ तथा प्राचीन आदर्श पुरुषोंकी कथाएँ सुनाकर उसके बालमनपर उदात्त संस्कारोंको अंकित करती रहती थीं। इस तरह उत्तम शिक्षाका लाभ होनेसे शिवाजीमें अनेक सद्गुणोंका विकास हो चुका था। सन १६४४ में कोंढाणा (सिंहगढ) किला तथा प्रांत दादाजीने हथिया लिया। शिवाजीने वहाँ अच्छा प्रबंध कर सन १६४६ में आदिलशाहके किलेदारके साथ षड्यंत्र कर तोरणा किला अपने ताबेमें कर लिया; और तबसे लगभग ३५ वर्षोंतक भरसक प्रयत्न कर, तानाजी, मोरोपंत आदि कई देशभक्त सहयोगियोंकी सहायतासे महाराष्ट्रमें 'हिंदवी स्वराज्य' खड़ा किया। सन १६७४ में रायगढ़पर महान् समारोहके साथ शिवाजीने स्वतंत्र मराठा राज्यके राजा होनेकी घोषणा की। शिवाजीके कार्यकालमें प्रतापगढ़का युद्ध (अफजलखाँकी हत्यासे प्रसिद्ध), औरंगजेबके फौलादी प्रबंधको भी तोड़कर आगरेसे बड़ी चतुरतासे छटकना; सुरत, बिजापूर, हुबली आदि विभव-संपन्न नगरोंपर हमले; सिद्दी तथा अंग्रेजोंके जंगी बेड़ोंसे मुठभेड़, कर्णाटकमें दिग्विजय आदि कई प्रसंग महत्त्वपूर्ण हैं। इन सब प्रसंगोंमें वीरता, दक्षता, समयकी सूझ, बुद्धिमानी एवं धर्मनिष्ठा आदि शिवाजीके अनेक गुण हृदयांकित होते हैं।

राज्याभिषेकके छः वर्षबाद गठियाकी बीमारीसे छत्रपति शिवाजी महाराजने स्वर्गवास किया। उनके दो पुत्र थे—संभाजी तथा राजाराम। संभाजीने अपने पिताके पश्चात् राजकार्य सँभाल लिया।

भारतही क्या परन्तु संसारभरमें छत्रपति शिवाजीके समान लोकोत्तर पुरुष शायदही हो गया होगा। इतिहासके आचार्य कै० राजवाडे लिखते हैं—

' छत्रपती शिवाजीकी योग्यता स्वयंसिद्ध है। अप्रस्तुत होनेपरभी यदि उनके साथ किसीकी तुलनाही करनेका प्रसंग आ गया, तो अपने देशको स्वतंत्र करनेवाला जार्ज वाशिंग्टन् अथवा हालण्डका 'पहला विलियम्' ऐसे राष्ट्रपुरुषही शिवाजीकी योग्यतातक पहुंच सकते हैं। छत्रपती शिवाजीने न तो 'अलक्जण्डर द ग्रेट' के जैसे जित नगरोंमेंके अमूल्य ग्रन्थसंग्रह जलवा डाले, न अपने मित्रोंका वध करवाया। ज्यूलियस सीजरके समान उन्होंने अपने पत्नीको निराश्रित अवस्थामें छोड नहीं दिया। नेपोलियनके अनुसार आसुरी महत्त्वाकांक्षासे प्रेरित होकर अन्य राष्ट्रोंका स्वातंत्र्य पैरोंतले कुचल देना भी शिवाजी जानते न थे। न उन्होंने लामलेनके समान किसी प्रान्तके निरपराध लोगोंको कत्ल करवाया। शिवाजी बाबरके समान शूर तथा सहनशील थे। उन्होंने अकबरके समान बड़ी योग्यतासे राज्यशासन चलाया। उनमें औरंगजेबकी उद्योगशीलता होनेपर भी औरंगजेबका कपट, क्रूरता, विश्वासघात, परधर्मके विषयमें असहिष्णुता इत्यादि दोषोंका गंधतक न था।'

वेदकी संहिताएं।

प्रथम और द्वितीय भाग तैयार हैं, तृतीय भाग छप रहा है।

आज वेद की जो संहिताएँ उपलब्ध हैं, उन में प्रत्येक देवता के मन्त्र इधरउधर बिखरे हुए पाये जाते हैं। एक ही जगह उन मंत्रों को इकट्ठा करके यह **दैवत-संहिता** बनवायी गयी है।

दैवतसंहिता।

दैवत-संहिता-प्रथम भाग।

१ अग्निदेवता	मंत्र २४४३	पृष्ठसंख्या ३४६
२ इंद्रदेवता	३३६३	,,	३७६
३ सोमदेवता	११६१	,,	१५०
४ मरुद्देवता	४६४	,,	७२

दैवत-संहिता-द्वितीय भाग।

५ अश्विनौ	मंत्र ६८९	पृष्ठसंख्या	११२
६ आयुर्वेद-प्रकरण	२३४५	,,	२७२
७ रुद्र	२२७	,,	६४
८ उषा	१९४	,,	४०
९ अदिति-आदित्य	११३७	,,	१५६
१० विश्वे देवाः	२३२०	,,	२२६

इन में प्रत्येक देवताके मूल मन्त्र, पुनरुक्त-मंत्रसूची, उपमासूची, विशेषणसूची तथा अकारानुक्रम से मंत्रोंकी अनुक्रमणिका का समावेश तो है, परंतु कभी कभी उत्तरपदसूची या निपातदेवतासूची इस भाँति अन्य भी सूचीयाँ दी गयी हैं। इन सभी सूचीयों से स्वाध्यायशील पाठकों की बडी भारी सुविधा होगी।

संपूर्ण दैवतसंहिताके इसी भाँति तीन विभाग होनेवाले हैं और प्रत्येक विभाग का मूल्य ६) रु. तथा डा. व्य. १॥) है। पाठक ऐसे दुर्लभ ग्रन्थ का संग्रह अवश्य करें।

चार वेद

१ ऋग्वेद (द्वितीय संस्करण) ६) डा० व्य० १॥)		३ सामवेद	(समाप्त)
२ यजुर्वेद	(समाप्त)	४ अथर्ववेद	(,,)

इन ४ वेदोंकी संहिताओंमेंसे ३ समाप्त होनेसे उनके नये संस्करण छप रहे हैं।

यजुर्वेदकी संहिताएँ।

५ काण्व संहिता	४)	॥)	७ काठक संहिता	६)	१)
६ मैत्रायणी संहिता	६)	१)	८ तैत्तिरीय संहिता (कृष्ण यजुर्वेद)	६)	१)

वेदकी इन चारों संहिताओं का मूल्य २२) है, डा. व्य. ३॥।) है अर्थात २५॥।) डा. व्य. समेत है। परंतु जो ग्राहक पेशगी मूल्य भेजकर ग्राहक बनेंगे, उनको ये चारों संहिताएं १९) रु० में दी जायंगी। डाकव्यय माफ होगा।

९ यजुर्वेद- सर्वानुक्रम मू. १॥) ।=) १० यजुर्वेद- पादसूची १॥) ।=)
ऋग्वेद परिशिष्ट (मंत्रसूची, सर्वानुक्रम इ.) २॥) ॥।)

मंत्री, स्वाध्याय-मण्डल, औंध, (जि० सातारा)

Regd No. B. 1463

मुद्रक और प्रकाशक- श्री० सातवळेकर, भारत मुद्रणालय, औंध